विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक ४ अप्रैल २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
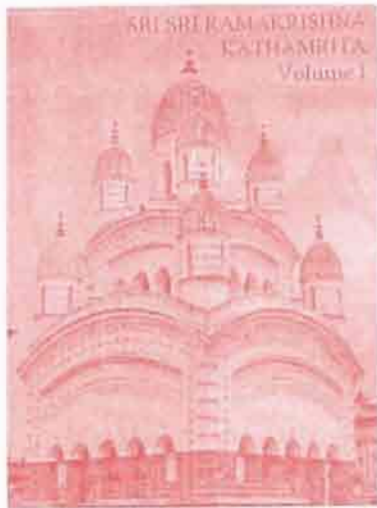
RECENTLY RELEASED

Sri Sri Ramakrishna Kathamrita
VOLUME I

in English

A word for word translation of original Bengali edition. Available as hardbound copy at subsidized price, **for Rs. 150.00 each.**

Also available:

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 275 per set

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali which were first published at Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. These are word for word translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set

  In this series of 16 volumes the reader is brought in close touch with the life and teachings of Sri Ramakrishna family: Thakur, Swamiji, Holy Mother, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. And there is the elucidation according to Sri Ramakrishna's line of thought, of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures. The third speciality of this work is the ***commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by the author himself.***

ENGLISH SECTION

- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00
- A Short Life of M. Rs. 25.00

For enquiries please contact:

SRI MA TRUST
Sri Ramakrishna Sri Ma Prakashan Trust
579, Sector 18-B, Chandigarh - 160 018 India
Phone: 91-172-77 44 60
email: SriMaTrust@bigfoot.com

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक ४

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, ह्रदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

वर्ष ४० | अप्रैल २००२ | अंक ४

नीति-शतकम्

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ।।५७।।

अन्वयः – चण्डकोपानां भूभुजां कश्चित् (अपि) आत्मीयः नाम न (अस्ति) । पावकः स्पृष्टः (सन्) जुह्वानं होतारम् अपि दहति ।

भावार्थ – जैसे अग्नि का स्पर्श उसमें आहुति देनेवाले यज्ञकर्ता को भी दग्ध कर डालता है, वैसे ही अत्यन्त भयंकर क्रोधयुक्त स्वभाववाले राजाओं या प्रशासकों का कोई भी अपना नहीं होता अर्थात् उनके आसपास के सभी लोग सन्तप्त रहते हैं।

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वेवसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।।५८।।

अन्वयः – मौनात् मूकः, प्रवचनपटुः वातुलः जल्पकः वा, सदा पार्श्वे वसति च धृष्टः, दूरतः च अप्रगल्भः, क्षांत्या भीरुः, यदि न सहते प्रायशः नाभिजातः, परम-गहनः सेवाधर्मः योगिनाम् अपि अगम्यः।

भावार्थ – सेवाधर्म अत्यन्त जटिल है और योगियों तक की समझ के परे है, क्योंकि (सेवक) यदि प्राय: चुप रहे तो उसे गूँगा कहा जाता है, यदि बोलने में कुशल हो तो उसे बड़बोला या बातूनी कहा जाता है, यदि निकट रहे तो ढीठ और दूर रहे तो मूर्ख कहा जाता है, यदि सहनशील हो तो दब्बू और न सहे तो नीच कहलाता है।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

हे परमहंस हे युगाराध्य ।
साकार ब्रह्म नित निर्विकार,
ऋषि-मुनि-बुधजन के परम साध्य ।।

धरती पर धर्म प्रसारण को, त्रेता में आकर राम बने,
द्वापर में आये और किया, गोपाल रूप धारण तुमने;
लीला करने आते जग में,
तुम परम तत्व हो प्रकृति आद्य ।।

वेदों का सत्यापन करने,
अब आये निपट निरक्षर बन,
सुन ज्ञान तुम्हारा रह जाते,
हैरान, ठगे से विद्वज्जन ।।
सन्मार्ग बताया जो तुमने,
जग अपनाने को सहज बाध्य ।।

– २ –

रे मन, रामकृष्ण ही जपना,
काल-व्याल के मुख कराल से,
जो तू चाहे बचना ।।

धन-यौवन का गर्व न करना,
सब कुछ मिट जायेगा,
भोग-वासना का पंछी,
पल पल को चुग जायेगा;
अब भी समझ मूढ़ मन मेरे,
क्या पर है क्या अपना ।।

सब असार है जग की माया,
इसके बन्धन तोड़ो,
परम सुहृद चिरदिन के अपने,
प्रभु से नाता जोड़ो;
क्षणभंगुर यह जीवन सारा,
बीतेगा ज्यों सपना ।।

– विदेह

विवेकानन्द-जीवनकथा (५)

स्वामी प्रेमेशानन्द

आचार्य

१५ जनवरी १८९७ ई. को संध्या के समय स्वामीजी ने श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में पदार्पण किया। जिन विश्वजयी महापुरुष के व्याख्यान सुनकर पाश्चात्य जातियों ने हिन्दू धर्म के सम्मुख सिर झुका लिया था, उन्हें देखने को नगर के प्राय: सभी लोग स्टेशन पर आकर एकत्र हो गये थे। कोलम्बोवासियों के विशेष आग्रह पर उन्होंने १८ तारीख तक वहीं निवास किया। उनके व्याख्यान तथा वार्तालाप सुनकर सबके मन में हिन्दू धर्म का लुप्त गौरव सजीव हो उठा। ये कुछ दिन उन्होंने जिस बँगले में बिताये थे, वह अब भी 'विवेकानन्द लॉज' के नाम से जाना जाता है।

श्रीलंका के सभी नगरों तथा दक्षिण भारत के विविध स्थानों के नागरिक उनसे अपने अपने नगर में आने का अनुरोध करते हुए उन्हें निरन्तर टेलिग्राम भेजते रहे। वे कोलम्बो से कैण्डी और वहाँ से जाफना गये। सर्वत्र ही उन्हें देखने को भीड़ एकत्र हो जाती, लोग उनके व्याख्यान सुनने को व्यग्र रहते।

जाफना से स्टीमर में बैठकर वे रामनाद राज्य में पहुँचे। रामनाद के राजा श्री भास्कर सेतुपति अपने गुरुदेव के दर्शन की आकांक्षा से नाव के साथ स्टीमर-स्टेशन पर उपस्थित थे। स्वामीजी के स्टीमर से नौका में उतरते ही राजा और उनके पार्षद स्वामीजी के चरणों में पड़ गये। स्वामीजी को गाड़ी में बैठाकर शोभायात्रा के साथ स्वयं खाली-पाँव चलते हुए राजा उन्हें अपने राज्य में ले आये। राजगुरु विश्वविजेता विवेकानन्द को अपने बीच पाकर पूरा राज्य उत्सव मनाते हुए मतवाला हो उठा। भारतभूमि पर जहाँ स्वामीजी ने अपना प्रथम पदार्पण किया था, सेतुपति ने वहाँ चालीस फुट ऊँचा एक स्मृति-स्तम्भ बनवाया।

स्वामीजी भारत में आ पहुँचे हैं, यह खबर तुरन्त ही जंगल में आग की भाँति सर्वत्र फैल गयी और सम्पूर्ण भारत उनके नाम पर उन्मत्त हो उठा। सभी समाचार-पत्रों में उनकी कीर्तिकथा तथा उनकी गतिविधियों के बारे में चर्चा होने लगी। वे रामनाद से मद्रास जायेंगे यह ज्ञात होते ही रास्ते में जितने भी स्टेशन या नगर पड़ते थे, वहाँ के निवासी स्वामीजी का अभिनन्दन करने और व्याख्यान सुनने को अधीर हो उठे। अत: उन्हें परमकुड़ी, मदुरा, कुम्भकोणम आदि स्थानों में ठहरकर लोगों के अभिनन्दन स्वीकार करते हुए व्याख्यान देने पड़े। इसके अतिरिक्त उनकी एक झलक पा लेने को स्टेशनों पर बहुत-से लोग एकत्र हो जाते थे। कहीं कहीं पर ट्रेन को थोड़ी देर रोककर उनका सत्कार किया गया।

समुद्र के समीप एक छोटे से स्टेशन पर एक विचित्र घटना हुई थी। उस स्टेशन पर सभी गाड़ियां ठहरती न थीं। सैकड़ों लोगों ने जाकर स्टेशन मास्टर से अनुरोध किया कि वे स्वामीजी की ट्रेन को कुछ मिनटों के लिए रुकवा दें। परन्तु स्टेशन मास्टर ने हीला-हवाला करते हुए पिछले स्टेशन से गाड़ी छुड़वा दी। अब गाड़ी को रोकने का कोई उपाय न था। अत: कुछ साहसी लोग जाकर रेल की पटरियों पर लेट गये। देखते-ही-देखते अनेक लोग वहाँ जा खड़े हुए। स्टेशन मास्टर बड़ी कठिनाई में पड़े। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक लाल झण्डी दिखाई। गार्ड ने दूर से ही सारा माजरा समझकर गाड़ी रोक दी। तब सहस्रों कण्ठों से निकली स्वामीजी की जयध्वनि से चारों दिशाएँ गूँज उठीं। समवेत जनसमुदाय ने स्वामीजी की गाड़ी के सम्मुख खड़े होकर उनकी अभ्यर्थना की।
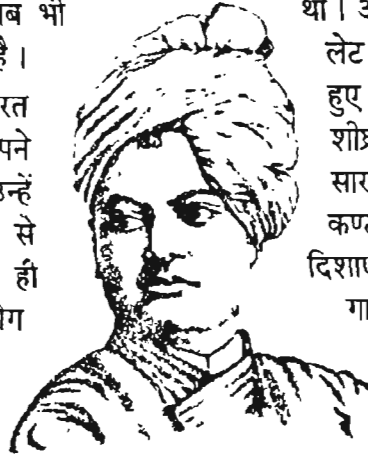
मद्रास में स्वामीजी का जैसा स्वागत-सत्कार हुआ, वैसा भारत में कभी किसी गण्यमान्य व्यक्ति का हुआ सुनने में नहीं आता। मद्रास के समस्त नागरिकों ने मिलकर उनकी अभ्यर्थना की तैयारी की। सत्रह तोरणों का निर्माण करके पूरे नगर को सजाया गया। स्टेशन में स्वामीजी की गाड़ी के प्रवेश करते ही हजारों कण्ठों की जयध्वनि से गगन विदीर्ण होने लगा। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भारत का अतीत गौरव मानो पुन: लौट आया हो।

स्वामीजी ने मद्रास में नौ दिन बिताए। उन नौ दिनों के दौरान पूरा मद्रास मानो उत्सवमय हो उठा था। उस विराट् नगर में सर्वत्र केवल स्वामीजी की ही चर्चा हो रही थी। वहाँ पर उन्होंने जो अद्भुत व्याख्यान दिये थे, वे उनके 'भारतीय व्याख्यान' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुए हैं।

मद्रास से उन्होंने स्टीमर में कलकत्ता की यात्रा की। कलकत्ते में उनके अभिनन्दन का विशेष आयोजन हुआ था। स्पेशल ट्रेन में उन्हें खिदिरपुर से सियालदह स्टेशन तक लाया गया। उस विशाल रेलवे स्टेशन पर चारों ओर केवल नरमुण्ड ही दृष्टिगोचर हो रहे थे, मानो पूरा नगर ही टूटकर वहाँ समवेत हुआ हो। गाड़ी के स्टेशन में प्रवेश करते ही हजारों नरकण्ठों के वज्रघोष से स्वामीजी की जयध्वनि नि:स्रित होने लगी। उनके गाड़ी में सवार होने पर उत्साही युवक स्वयं ही

उसे खींचने लगे। वह विराट् जन-समुदाय भी उनके पीछे पीछे चल पड़ा। साथ में तरह तरह के वाद्य बज रहे थे और पीछे पीछे संकीर्तन की टोली चल रही थी।

हैरिसन रोड होते हुए उन्हें रिपन कॉलेज ले जाया गया। परन्तु इस विशाल जन-समुदाय के लिए वहाँ स्थान बना पाना असम्भव था, अत: उस दिन उन्हें अभिनन्दन-पत्र प्रदान करने तथा उनका व्याख्यान कराने का कार्यक्रम रद्द कर, उन्हें बागबाजार में श्री पशुपति नाथ बसु के घर ले जाया गया। बाद में शील-लोगों के उद्यान-भवन में पाश्चात्य शिष्यों सहित उनके ठहरने की व्यवस्था हुई। २८ फरवरी को शोभाबाजार के राजभवन में एक सभा आयोजित कर उन्हें अभिनन्दन-पत्र प्रदान किया गया, जिसके उत्तर में उन्होंने एक संक्षिप्त व्याख्यान दिया। स्वामीजी के गुरुभ्रातागण सात वर्ष बाद उन्हें अपने बीच पाकर आनन्द से अभिभूत हो गये। गुरुभाइयों से मिलकर अपने गुरुदेव की पुण्य-स्मृति हो आने से स्वामीजी के भी हर्ष की सीमा न रही। दिन के समय वे शील-लोगों के उद्यान-भवन में रहते और रात को आलमबाजार मठ चले जाते।

प्रतिदिन सैकड़ों लोग विविध उद्देश्यों के साथ उनके पास आने लगे। विद्वान् शास्त्रों पर विचार करने को, धर्मप्राण लोग उपदेश सुनने को, भक्तजन भक्तितत्त्व जानने को, समाजसेवी सामाजिक समस्याओं की मीमांसा हेतु, संवाददाता अपने अखबार में उनके मतों के प्रकाशनार्थ और मुमुक्षुवर्ग उनका शिष्य बनने के लिए उनके पास आया करते थे। सभी उनके उपदेश तथा अपने प्रश्नों के सटीक उत्तर सुनकर सन्तुष्ट-चित्त लौट जाते। धर्म के विषय में कोई शंका लेकर यदि कोई पास जाता, तो कभी कभी उसके पूछने के पूर्व ही वे उसका उत्तर दे डालते।

श्री गुडविन ने संकेतलिपि की सहायता से स्वामीजी के व्याख्यानों को लिपिबद्ध करके उनका जगत् में प्रचार किया। वे अंग्रेज होकर भी एक भारतीय शिष्य के समान स्वामीजी की सेवा करते थे। पाश्चात्य नर-नारियों की अद्भुत गुरुभक्ति तथा ज्ञान-वैराग्य देखकर अत्यन्त कट्टर हिन्दू भी दाँतों-तले अँगुली दबाते थे। श्वेतांग अंग्रेज भी एक सामान्य भारतवासी के प्रति ऐसी श्रद्धा दिखाएँगे, ऐसा पहले कभी किसी ने सपने में भी सोचने का साहस नहीं दिखाया था। किसी किसी ने सोचा कि स्वामीजी की वाग्विदग्धता पर मुग्ध होकर, भारत के बारे में बिना कुछ जाने ये साहब लोग उनके साथ चले आये हैं। परन्तु उनके साथ वार्तालाप करने पर सबने पाया कि वे सभी असाधारण बुद्धि से युक्त हैं।

अब उन्होंने भारतवर्ष में स्थायी रूप में धर्मप्रचार के केन्द्रों की स्थापना तथा देश के लोगों को स्वधर्म-रक्षा के कार्य में उत्साहित करने के लिए जनहितकर कार्यों की शुरुआत करने पर विशेष ध्यान दिया। स्वामीजी के अमेरिका-प्रवास के दिनों में ही उनके उत्साहपूर्ण पत्रों से अनुप्राणित होकर स्वामी अखण्डानन्द भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए शिक्षा-विस्तार तथा जीव-सेवा के कार्यों में लगे थे। फिर स्वामीजी के आदेश पर स्वामी अभेदानन्द तथा स्वामी सारदानन्द अमेरिका में धर्मप्रचार कर रहे थे। अब अमेरिका से लौटते ही उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द को मद्रास और स्वामी शिवानन्द को श्रीलंका में हिन्दू धर्म का प्रचार करने भेजा। उनके अन्य गुरुभाई तथा शिष्य भी – "बहु रूपों में खड़े तुम्हारे सम्मुख ईश्वर, उन्हें छोड़कर कहाँ खोज करते हो प्रभु की" – स्वामीजी के इस महावाक्य को कार्य रूप में परिणत करने के लिए विविध प्रकार से लोकोपकार के कार्यों में जुट गये।

विश्व के सभी देशों में समाज-कल्याण करने को अनेक सभा-समितियाँ हैं। परन्तु हमारे देश के शिक्षित लोग समाज-सेवा के बारे में केवल व्याख्यान देना ही जानते थे। इनमें एक दल हिन्दू जाति की और दूसरा दल बाकी सभी जातियों की निन्दा को ही भारत-कल्याण का एकमात्र उपाय मानता था। स्वामीजी ने अपने देशवासियों को सच्ची समाज-सेवा सिखाने के लिए १८९७ ई. के १ मई को रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसी संघ के अनुकरण पर अब भारत के विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार की समितियाँ गठित होकर भारतवासियों की दुर्दशा दूर करने के प्रयास में लगी हुई हैं।

श्रीरामकृष्ण मठ उन दिनों आलमबाजार में स्थित था। वहाँ से वे मठ को स्थानान्तरित करके गंगा के पश्चिमी तट पर स्थित नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में ले आये। मुख्यत: अंग्रेज शिष्यों की सहायता से बेलूड़ ग्राम में स्थायी मठ बनाने हेतु कुछ बिघे जमीन खरीदी गयी। एक वर्ष के भीतर ही वह भूमि मठ के उपयुक्त हो जाने पर १८९८ ई. के दिसम्बर में वहाँ श्रीरामकृष्ण की स्थापना हुई। आज पृथ्वी के अनेक देशों, जातियों तथा धर्मों के लोग इस मठ में आकर महा-समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं।

अनेक भाषाओं तथा धर्मों द्वारा असंख्य भागों में विभक्त इस आत्म-विस्मृत भारत को जगाने के लिए उन्होंने जो दैहिक एवं मानसिक परिश्रम किया था, उसका बिन्दु मात्र भी ज्ञान यहाँ नहीं दिया जा सकता। इस कठोर परिश्रम से उनका लौह-समान दृढ़ तथा बलिष्ठ शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो गया था।

आज स्वामीजी के नाम से सारा सभ्य समाज सुपरिचित है। परन्तु जब पितृहीन नरेन्द्रनाथ अन्न के अभाव में क्षीण हो रहे थे, ब्रह्मचारी नरेन्द्रनाथ को जब शाक के साथ खाने को नमक नहीं जुटता था, संन्यासी नरेन्द्रनाथ जब भिक्षा के अभाव में भयानक कष्ट पाते थे, तब उनके लिए अपना कहने को भगवान के सिवा दूसरा कोई नहीं होता था। दैहिक सुखों के प्रति उदासीन परमहंस नरेन्द्रनाथ जब भारत के दु:खो से

अभिभूत होकर भोगासक्त पाश्चात्य राष्ट्रों को धर्मदान करने गये, तो जब वहाँ उपयुक्त गरम कपड़ों के अभाव में वे मरणासन्न पड़े थे, जब घृण्य प्राच्यदेशीय कहकर अमेरिका के निम्न स्तर के लोग उन पर सड़े अण्डे, कोयले आदि फेंकते थे, जब उन्हें होटल या प्रतिष्ठित लोगों के घर से निग्रो कहकर भगा दिया जाता था, उन दिनों उनकी देहरक्षा के बारे में चिन्ता करनेवाला कोई नहीं था। एकाकी, असहाय और उन्मत्त के समान पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण करते करते उनका वज्रसम शरीर टूट गया था, तथापि देहत्याग के क्षण तक वे जरा भी विश्राम नहीं कर सके।

स्वास्थ्य अत्यन्त बिगड़ जाने के कारण चिकित्सकों के परामर्श पर कुछ काल के लिए उन्होंने दार्जिलिंग में जाकर निवास किया। स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार आते ही १८९८ ई. के वसन्त ऋतु में कलकत्ते में फैले प्लेग के भयानक प्रकोप का संवाद पाकर वे कलकत्ता लौट आये और अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों के साथ दुखी-पीड़ितों के उद्धार हेतु प्राणपण से परिश्रम करने लगे। उस भीषण महामारी के निवारणार्थ संन्यासियों ने अपने हाथ से नाले तक साफ किये थे। उनके इस महान् आदर्श से प्रेरणा पाकर अनेक युवक उनका अनुकरण करने लगे। स्वामीजी को इतना बड़ा कार्य हाथ में लेते देखकर बेलूड़ मठ के एक संन्यासी ने जब उनसे पूछा कि इस कार्य के लिए इतनी बड़ी धनराशि कहाँ से मिलेगी, तो स्वामीजी ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "क्यों! यदि आवश्यक हुआ तो यह मठ बेच डालूँगा। इससे लगभग एक लाख रुपये आ जाएँगे। हम लोग साधु हैं, पेड़-तले रहना और भिक्षा माँगकर खाना ही हमारा कर्तव्य है। और इतना समय तो हमने इसी प्रकार बिताया है।" परन्तु धन का अभाव नहीं हुआ। स्वामीजी का नाम सुनकर सभी लोग सहायता के लिए आगे बढ़ आये।

इन सेवा-कार्यों की पक्की व्यवस्था करने के पश्चात् स्वामीजी अपने अंग्रेज शिष्यों के साथ नैनीताल गये। इन शिष्यों को प्रशिक्षित करना तथा हिमालय में एक मठ की स्थापना ही इस यात्रा का उद्देश्य था। इन लोगों को अपने साथ देश के विभिन्न तीर्थों तथा विभिन्न प्रान्तों में ले जाकर देश के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक विवरण के साथ परिचित कराते हुए उन्होंने समझाया कि कैसे एक ही हिन्दू धर्म के भीतर विभिन्न भाव तथा आचार-विचार विद्यमान हैं। सेवियर साहब के धन से १८९९ ई. के मार्च मे अल्मोड़ा जिले के मायावती नामक स्थान में अद्वैत आश्रम स्थापित हुआ। हिन्दू धर्म की यथार्थ व्याख्या करने के लिए कलकत्ते से 'उद्बोधन' नामक बँगला पाक्षिक[१] तथा अद्वैत आश्रम से 'प्रबुद्ध भारत' नामक अंग्रेजी मासिक प्रकाशित होने लगे।

काश्मीर-भ्रमण के दौरान स्वामीजी ने कुछ दिनों तक वहाँ की देवी क्षीरभवानी के मन्दिर में तपस्या भी की। मुसलमानों के अत्याचार से टूटे हुए मन्दिर की ओर देखते हुए एक दिन वे सोच रहे थे, "हिन्दू लोग माँ के मन्दिर की रक्षा नहीं कर सके। मैं यदि उन दिनों रहता तो प्राणपण से माँ के मन्दिर की रक्षा करता।" तभी सहसा उन्हें सुनाई पड़ा, "तुम मेरी रक्षा करते हो या मैं तुम्हारी रक्षा करती हूँ? मेरे मन्दिर में म्लेच्छ प्रवेश करें या मेरे मन्दिर को तोड़ें, इससे क्या बनता-बिगड़ता है?" एक अन्य दिन भी ऐसी ही घटना हुई थी। माँ की अर्चना करते हुए स्वामीजी भग्न मन्दिर के पुनर्निर्माण के बारे में सोच रहे थे। माँ ने मानवीय भाषा में कहा, "मेरी इच्छा हो, तो असंख्य मन्दिर बन सकते हैं; अभी यहाँ पर सोने का सत-मंजला भवन खड़ा हो सकता है।"

एक जगह एक मुसलमान बीच बीच में स्वामीजी के पास आना-जाना करता था। स्वामीजी का भी उससे बड़ा लगाव हो गया था। एक दिन उसे सिरदर्द से बड़ा कष्ट पाते देख स्वामीजी ने उसके सिर पर हाथ फेर दिया और इसके साथ ही उसकी पीड़ा दूर हो गयी। इस घटना के बाद से वह व्यक्ति

आगे बढ़ो

डा. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

पुण्य की ज्योति जग में जगाते हुए,
प्रेम के ही नवल गीत गाते हुए,
सत्यता को हृदय से लगाते हुए,
बन्धु! आगे बढ़ो, बन्धु आगे बढ़ो।

हो मनुज तुम मनुजता सँवारो सदा,
आरती भारती की उतारो सदा,
धूल-चन्दन से मस्तक सजाते हुए,
बन्धु! आगे बढ़ो, बन्धु आगे बढ़ो।

विघ्न पथ में पड़ें जो उन्हें तोड़ दो,
तार सद्भावना के सभी जोड़ दो,
नित्य मन के सुमन को खिलाते हुए,
बन्धु! आगे बढ़ो, बन्धु आगे बढ़ो।

बात मेरी सखे! तुम अभी मान लो,
देह नश्वर सभी को सही जान लो,
आत्मा को अमृत-तत्त्व पाते हुए,
बन्धु! आगे बढ़ो, बन्धु आगे बढ़ो।

छोड़ सत् को असत् ओर जाना नहीं,
श्वास के मोतियों को गँवाना नहीं,
प्रेय में श्रेय का स्वर मिलाते हुए,
बन्धु ! आगे बढ़ो, बन्धु आगे बढ़ो।

१. कुछ काल बाद 'उद्बोधन' पत्रिका मासिक हो गयी थी।

सर्वदा स्वामीजी के पास आकर बैठा रहता। एक फकीर उसका गुरु था, जो शिष्य के विरह में परेशान हो गया। पूछताछ से पता चला कि वह स्वामीजी के पास आवागमन करता है। उसे लगा कि स्वामीजी उसके शिष्य को बहकाकर ले जा रहे हैं। इस पर उसने अत्यन्त क्रोधित होकर अजस्र गालियाँ सुनाते हुए उन्हें अभिशाप दिया कि अविलम्ब उनका सिर चकराने और उल्टी होने लगे। एक-दो दिन के भीतर वे सचमुच ही उस रोग से पीड़ित होकर कष्ट पाने लगे।

उत्तर भारत की यात्रा से मठ लौटकर स्वामीजी कुछ दिन मठ के संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को शिक्षा देने में लगे रहे। परन्तु स्वास्थ्य बिल्कुल बिगड़ जाने के कारण चिकित्सकों ने उन्हें पूरा विश्राम तथा समुद्र-भ्रमण की सलाह दी। तदनुसार १८९९ ई. के जून में वे पुन: अमेरिका की यात्रा पर निकल पड़े। निवेदिता और स्वामी तुरीयानन्द भी उनके साथ चले।

उन दिनों अमेरिका में केवल स्वामी अभेदानन्द ही विद्यमान थे। मठ के कार्य-संचालन आदि के लिए स्वामी सारदानन्द को पहले ही वहाँ से वापस बुला लिया गया था। अमेरिका के लोग वहाँ और भी प्रचारक भेजने के लिए स्वामीजी से अनुरोध कर रहे थे। इसीलिए उन्होंने स्वामी तुरीयानन्द से अपने साथ अमेरिका चलने का अनुरोध किया। महावैरागी तुरीयानन्द पहले तो भोगासक्त पाश्चात्य देशों में जाकर धर्मप्रचार करने को बिल्कुल भी राजी नहीं हुए। तब रोग-जर्जर स्वामीजी जगत् के दुख पर बालक की भाँति रुदन करते हुए स्वामी तुरीयानन्द का गला पकड़कर कहने लगे, "हरि भाई! अकेले ही ठाकुर का कार्य करते हुए मैं बस हाड़ भर रह गया हूँ। मैं अब और बचूँगा नहीं। भाई, तुम लोग यदि सहायता न करो तो मुझे ठाकुर का कार्य अधूरा ही छोड़कर चले जाना पड़ेगा।" स्वामीजी की मानव-प्रीति देखकर तुरीयानन्द अपने आँसू रोक नहीं सके। वे स्वामीजी को यह कहकर सान्त्वना देने लगे, "तुम जो कहोगे, आज से मैं वैसा ही करूँगा।"

अमेरिका पहुँचकर स्वामीजी ने वहाँ अपना अधिकांश समय केलीफोर्निया में ही बिताया। उनके शिष्य और मित्र उन्हें फिर अपने बीच पाकर वर्णनातीत आनन्द में डूब गये। इस बीच उनकी व्याख्यान-माला के ग्रन्थ पढ़कर और स्वामी अभेदानन्द एवं स्वामी सारदानन्द के उपदेश सुनकर अनेक लोग हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धान्वित हो रहे थे। वे लोग भी स्वामीजी का दर्शन पाकर बड़े प्रसन्न हुए। पूरा देश स्वामीजी के व्याख्यान सुनने को उत्सुक था, अत: इस बार भी उन्हें अनेक व्याख्यान देने पड़े। जो लोग हिन्दू धर्म के तत्त्वों को समझकर साधना करने के इच्छुक थे, उन्हें वे साधन-भजन की शिक्षा भी देने लगे।

१९०० ई. के अन्त में पेरिस नगर में एक धर्मविषयक सम्मेलन करने का प्रस्ताव था। परन्तु कैथॅलिक ईसाई इसके विरोधी हो गये, क्योंकि १८९३ ई. में हुए शिकागो के धर्ममहासभा के फलस्वरूप हिन्दू धर्म अमेरिका में छा गया था और अब यूरोप में भी सभा आयोजित करके उस विपत्ति को बुला लाने में इन लोगों को भय हो रहा था। आखिरकार यह निश्चित हुआ कि सभा में केवल धर्म के इतिहास पर ही चर्चा होगी। इस सभा की ओर से आमंत्रित होकर स्वामीजी अमेरिका से यूरोप आ गये।

पेरिस की सभा में उन्होंने हिन्दू धर्म के इतिहास पर व्याख्यान दिये। इस सभा के बाद उन्होंने यूरोप के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर और दार्शनिकों के साथ परिचय और वार्तालाप के द्वारा उन्हें भारतीय चिन्तन-प्रणाली का उत्कर्ष समझाने का प्रयास किया। फिर यूरोप से मिस्र आदि देश होते हुए १९ दिसम्बर १९०० ई. को वे बेलूड़ मठ वापस लौटे।

अगले वर्ष जाड़े के दिनों में वे ढाका गये। वहाँ से उन्होंने चन्द्रनाथ, कामाख्या तीर्थ और मार्ग में गौहाटी, शिलांग आदि स्थान देखे। १९०२ ई. के प्रारम्भ में वे बोधगया और काशी का भ्रमण कर आये। अब से मानो वे अपनी अन्तिम यात्रा के लिए प्रस्तुत होने लगे। स्वास्थ्य क्रमश: बिगड़ता जा रहा था। गुरुभाइयों तथा शिष्यों के हठ पर उन्होंने वैद्यकी औषधियाँ लेनी आरम्भ की। भीषण गर्मी का मौसम था, तो भी चिकित्सक की व्यवस्था के अनुसार उन्होंने एक बूँद भी जल पीना बन्द कर दिया। शिष्य और गुरुभाई जी-जान से उनकी सेवा करने लगे। ४ जुलाई को लग रहा था कि उनका शरीर खूब स्वस्थ है। भगिनी निवेदिता ने लिखा है –

"उस दिन उन्होंने अपनी दिनचर्या के अनुसार कई घण्टों तक ध्यान किया था और उसके बाद काफी देर तक संस्कृत-व्याकरण पढ़ाया। फिर बेलूड़ मठ के फाटक से वे दूरवर्ती मुख्य मार्ग तक टहल भी आये। टहलकर लौटने के बाद वे अपने कमरे में जाकर गंगा की ओर मुख करके ध्यान में बैठे। यही उनका आखिरी ध्यान था। उनके गुरुदेव ने पहले से जिस मुहुर्त के बारे में भविष्य-वाणी की थी, वह अब आ पहुँचा था। आधा घण्टा बीत गया; तत्पश्चात् उसी ध्यानरूपी पंखों पर आरोहण करके उनकी आत्मा देश-काल की सीमा परे उस परम धाम को चली गयी, जहाँ से पुनरावर्तन नही होता और उनका शरीर तह किये हुए वस्त्र के समान पृथ्वी पर ही पड़ा रह गया।"

❖ (समाप्त) ❖

अंगद-चरित (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके पहले प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

विभिन्न देवताओं ने अपने विभिन्न अंशों से अलग अलग बन्दरों के रूप में जन्म लिया। हनुमानजी के विषय में आपने पढ़ा होगा। वे बन्दर के रूप में अवतरित शंकरजी हैं। वे तो बड़े चतुर निकले। उन्हें ब्रह्मा के आदेश की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते तो अयोध्या में भी जन्म ले सकते थे। पर उन्होंने जान-बूझकर वानर के रूप में जन्म लिया। इसके पीछे उनकी भावना बहुत बढ़िया थी। लंका को जलाने के बाद हनुमानजी जब लौटकर प्रभु के पास आये, तो प्रभु उनकी प्रशंसा करने लगे। तब हनुमानजी ने क्या किया? – वे प्रभु के मुख की ओर देखने लगे, बारम्बार देखने लगे –

सुनि प्रभु बचन बिलोकि
मुख गात हरषि हनुमंत ।। ५/३२

प्रभु हँसकर बोले – हनुमान ! तुम्हारी दृष्टि तो सदा मेरे चरणों पर ही रहा करती है, आज उसे छोड़कर मुख को इतने ध्यान से क्यों देख रहे हो? हनुमानजी ने कहा – प्रभो, आप प्रशंसा तो मुख से कर रहे हैं, इसलिए मुख को देख रहा हूँ। – कैसी प्रशंसा? बोले – "जैसी प्रशंसा आपने नारदजी की की थी, कहीं वैसी ही प्रशंसा मेरी भी तो नहीं हो रही है? इसलिए जरा देख लिया कि मुख पर भाव क्या है?" प्रभु ने पूछा – तब तो तुम्हें प्रशंसा से डर लगता होगा? बोले – नहीं महाराज, डर एक अर्थ में तो है और दूसरे अर्थ में नहीं भी है। – क्यों? – "आपने नारदजी की व्यंग्य भरी प्रशंसा कर दी थी और उनको अभिमान हो गया था। तब आपने उन्हें बन्दर बना दिया था, पर मैं तो पहले से ही बन्दर बन गया हूँ, अब कोई चिन्ता नहीं है। वे सुन्दर थे तो अभिमान के कारण बन्दर बन गये, अब आप बन्दर को सुन्दर बनायेंगे, इसलिए मैं पहले से ही बन्दर बन गया हूँ। अभिमान व्यक्ति को नीचे ले जाता है, इसलिए मैं पहले से ही ऐसे रूप में आपके सामने आ गया, जिससे नीचे गिरने के भय से मुक्त हो सकूँ।" इसलिए शंकरजी अवतरित होते हैं, हनुमानजी के रूप में, ब्रह्मा स्वयं जाम्बवान जी के रूप में और देवराज इन्द्र के अंश से बालि का जन्म होता है। सुग्रीव का जन्म सूर्य के अंश से होता है।

'मानस' तथा अन्य ग्रन्थों में भी सुग्रीव का परिचय सांकेतिक रूप से दिया गया है। यहाँ हम उस पृष्ठभूमि पर विचार करेगे। ब्रह्मा ने देवताओं को यह आदेश दिया था कि आप लोग वानर के रूप में जन्म लें और सेवा-भक्ति का व्रत लेकर भगवान के आगमन की प्रतीक्षा करें। यहाँ गोस्वामीजी ने यह बात स्पष्ट रूप से जोड़ दी है। उनके शब्द हैं –

हरि मारग चितवहिं मति धीरा । १/१८८/४

सभी देवता बन्दर के रूप में जन्म लेकर भगवान के आने का मार्ग देख रहे हैं। अब यहाँ साधना का दूसरा तत्त्व आता है। साधना और सत्कर्म तो ठीक हैं, पर रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए या आध्यात्मिक भाषा में कहिये तो मोह तथा अभिमान को जीतने के लिए क्या केवल सत्कर्म और सद्गुण ही यथेष्ट हैं या कुछ और चाहिए? इसका सूत्रात्मक उत्तर यह दिया गया कि हममें चाहें जितने सत्कर्म तथा पवित्र गुण हों, उन गुणों तथा सत्कर्मों को भगवान से जोड़ना आवश्यक है। अभिप्राय यह कि व्यक्ति के जीवन में साधना या पुरुषार्थ और भगवत्कृपा का सामंजस्य होना चाहिए। भगवत्कृपा के नाम पर यदि व्यक्ति साधना तथा पुरुषार्थ की ओर से निष्क्रिय हो जाय, तो उसने कृपा का दुरुपयोग किया और यदि साधना और पुरुषार्थ के अभिमान में उसने भगवान को भुला दिया, तो उसने भक्ति की अवहेलना की। इसलिए जीवन में दोनों का सामंजस्य होना चाहिए।

यही सूत्र यहाँ पर भी है। ब्रह्मा ने देवताओं को आदेश दिया कि आप लोग वानर के रूप में जन्म लेकर भक्तिपूर्वक भगवान की प्रतीक्षा करें और जब वे आकर लंका पर चढ़ाई करें, तो उनके पीछे चलते हुए युद्ध करें। लंका में भगवान की विजय होगी। साधना का भी यही क्रम है। सत्कर्म में जो अभाव है, उसे दूर करने के लिए हम भगवान से प्रार्थना करें। उनकी कृपा पाने के लिए हम साधना करते हुए निरन्तर भगवान की प्रतीक्षा करते रहें। तो देवताओं ने क्या किया?

सबसे अनोखे तो हनुमानजी है। उन्होंने स्वयं रावण या कुम्भकर्ण से युद्ध नहीं किया। उनकी शक्ति व सामर्थ्य का वर्णन पढ़कर तो लगता है कि हनुमानजी के जैसा बलवान तो कोई था ही नहीं। पर उनके चरित्र का तत्त्व क्या है? वे अपने बल का उपयोग तभी करते हैं, जब प्रभु मिल जाते हैं और जब वे उन्हें यह काम सौंपते हैं। अभिप्राय यह कि हनुमानजी भगवत्प्राप्ति के बाद भगवान के यंत्र के रूप में, भगवान जैसी प्रेरणा देते हैं, उसी रूप में महान् कार्य सम्पन्न करते हैं।

इन बन्दरों में बालि ही एक ऐसा था, जिसका व्यवहार इससे भिन्न हुआ। वह भगवान के आने की प्रतीक्षा न करके, पहले से ही शक्ति-प्रदर्शन करने लगा। वह बड़े बड़े वीरतापूर्ण कार्य करने लगा और सचमुच ही उसने अपने जीवन में बड़े अनोखे कार्य कर दिखाये। आप पढ़ते हैं कि रावण और बालि में संघर्ष हुआ और बालि ने रावण को हरा दिया। मायावी राक्षस ने बालि को चुनौती दी और बालि ने उसे उसके साथियों सहित मार डाला। इसका अर्थ यह है कि बालि एक ऐसे योद्धा के रूप में आता है, जो दुर्गुण-दुर्विचारों को हराने में समर्थ है। लेकिन हम इस विजय को किस अर्थ में लें? कुछ लोग कहते हैं कि हम जीवन में सत्कर्म करें, ईश्वर की क्या आवश्यकता है? कई लोगों की मान्यता है कि सत्कर्म ही सब कुछ है, ईश्वर की अपेक्षा नहीं है, पर मानस का दृष्टिकोण ऐसा नहीं है। कहीं ऐसा न हो जाय कि हम ईश्वर की अवहेलना करके मात्र अपने पुरुषार्थ के द्वारा दुर्गुणों के खिलाफ युद्ध करने लग जायँ। इससे हम दुर्गुणों को दबा भले ही लें, पर उन्हें मिटा नहीं सकते। इन दोनों में अन्तर है। दवा के द्वारा रोग दबाया गया या रोग मिटाया गया? कुछ दवाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें आप खा लेते हैं और थोड़ी देर के लिए पीड़ा की अनुभूति मिट जाती है। सिरदर्द की गोली आपने खा ली और सिरदर्द की अनुभूति कुछ क्षणों के लिए दब गयी।

तात्पर्य यह कि दो शैलियाँ हैं – एक तो बुराइयों को दबाने की और दूसरी बुराइयों को मिटाने की। सही पद्धति तो केवल रोग को दबाना नहीं, बल्कि उसे मिटाना है। यहाँ बालि के चरित्र में जो संकेत आता है कि उसने रावण को हरा तो दिया, पर उसे मिटाया नहीं। बड़ी सांकेतिक भाषा है। उसने रावण को हराकर उसे बगल में दबा लिया। यह 'दबा लेना' शब्द बड़े महत्त्व का है। इसका अर्थ यह है कि एक समय उसने जीवन में बुराई को दबा लिया। याद रखिए रोग या बुराई के दब जाने से निश्चिन्त होने की बात नहीं है, बल्कि वह और खतरनाक है, क्योंकि रोग की अनुभूति होती रहे तो रोगी पथ्य करता है, सावधान रहता है; पर यदि वह कोई ऐसी दवा ले ले, जिससे कुछ काल के लिए पीड़ा की अनुभूति बिल्कुल ही गायब हो जाय, तब तो मनुष्य के मन में निश्चिन्तता आ जायेगी। कई लोग लाचारीवश ऐसा करते ही रहते हैं। पीड़ा हुई तो गोली खा ली, किसी तरह उसे दबाने की चेष्टा करो।

बालि की पद्धति में सबसे दोषपूर्ण बात यह है कि वह पाप को मिटाने की नहीं, बल्कि दबाने की चेष्टा करता हैं। रोग को दबाने की यह पद्धति बड़ी घातक है। जब तक पाप नहीं मिट जाता, व्यक्ति के मन में पाप की वृत्ति बनी हुई है, तब तक उसे पाप से सतत सावधान रहना होगा। पर यदि वह बालि के समान पाप और मोह को दबा लेगा, तो उसका वही परिणाम होगा, जो आगे चलकर बालि के जीवन में दीख पड़ता है।

मोह को दबा लेना बड़ा कठिन भी है और सरल भी। इसी कारण रावण के सन्दर्भ में भी बड़ी अनोखी बात कही गयी है। एक ओर तो यह कहा गया है कि रावण ने सारे संसार को जीत लिया है और दूसरी यह भी बात आती है कि रावण को तो बालि ने हरा दिया, सहस्रार्जुन ने हरा दिया। अंगद जब रावण की सभा में जाते हैं, तो सारी पुरानी कथाएँ दुहरा देते हैं। वे पूछते हैं कि तुम कौन से रावण हो –

बलिहि जितन एक गयउ पताला।
राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला।।
खेलहिं बालक मारहिं जाई।
दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई।।
एक बहोरि सहसभुज देखा।
धाई धरा जिमि जन्तु बिसेषा।।
कौतुक लागि भवन लै आवा।
सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा।। ६/२४/१३-१६

और अन्त में व्यंग्य करते हुए बोले –

एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख।
इन्ह महुँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माख।। ६/२४

यहाँ विरोधाभास है। रावण विश्वविजेता है। इतने लोगों से हारकर तो उसे विजेता की उपाधि नहीं मिलनी चाहिए थी, पर जीवन का सत्य यही है। यह केवल बालि, सहस्रार्जुन या पाताललोक के बालकों का ही नहीं, बल्कि हमारे आपके जीवन का सत्य भी है। क्या हमारे आपके जीवन में भी तो कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जब हम थोड़े समय के लिए लोभ छोड़ देते हैं, काम से मुक्त हो जाते हैं, क्रोध पर नियंत्रण कर लेते हैं, मोह की वृत्ति को दबा लेते हैं। यह बात तो हर व्यक्ति के जीवन में होती है। क्या क्रोधी निरन्तर क्रोध ही करता रहता है? क्या कोई ऐसा कामी है, जो निरन्तर काम में लिप्त रह सके? इसका सीधा तात्पर्य यह है कि भले ही हम क्षण भर के लिए काम को हरा दें, कुछ देर के लिए लोभ पर विजय पा लें और उस क्षण को हम इतना महत्वपूर्ण समझें तथा उतने से ही मान लें कि हमने तो शाश्वत विजय पा ली। नारदजी को यही भ्रम हो गया था। जब काम ने नारदजी पर आक्रमण किया और उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तो नारदजी के मन में गर्व हुआ कि मैंने काम-क्रोध-लोभ को जीत लिया। पर काम जब उनके चरणों में प्रणाम करके चला गया, तो आगे चलकर हम देखते हैं कि भगवान ने नारदजी के जीवन में काम को भी ला दिया, क्रोध को भी ला दिया, लोभ को भी ला दिया और मद, मोह तथा ईर्ष्या भी ला दी। मानो वे बताना चाहते थे – नारद कभी किसी पवित्र काल में, पवित्र स्थान में बुराइयों को तुमने एक क्षण के लिए जीत लिया है, तो यह मत समझ बैठो कि बुराइयाँ सदा के लिए मिट गयीं? बल्कि नारदजी ने तो उल्टा ही तर्क दिया था। किसी ने उनसे कहा –

महाराज, केवल आप ही नहीं, शंकरजी भी तो कामजयी हैं। नारदजी ने कहा – होंगे, पर उनमें और मुझमें बड़ा अन्तर है। – क्या? बोले – शंकरजी ने तो क्रोधपूर्वक काम को जला दिया, पर मैंने उसे क्षमा कर दिया। अब बोलो, क्रोध से जला देनेवाला महान् है या क्षमा कर देनेवाला? बुराई को क्षमा कर देना! जब हम सहिष्णु होकर जीवन में बुराई को क्षमा करने के लिए तैयार रहते हैं, तो चाहे व्यवहारिक जगत् में हो या पारमार्थिक जगत् में, चाहे समाज के सन्दर्भ में हो या व्यक्ति के, इस सहिष्णुता का परिणाम तो बड़ा उल्टा होगा। शंकरजी की कला बड़ी सुन्दर है। वे बोले – नहीं, नहीं, इसे तो जलाना ही चाहिए, मिटाना ही चाहिए।

रामायण में जो कहा गया कि सारे संसार में रावण का राज्य था, तो इसका अभिप्राय क्या है? यह कि जीवन भर हम मोह के शासन में रहें और घण्टे भर के लिए मोह से मुक्त हों, उसे मोह का राज्य ही तो कहा जायेगा। अब आप कथा में आये हुए हैं, तो यही मानना होगा कि इस समय आप मोह से मुक्त हैं, पर प्रश्न है कि मोह मिट चुका है या दबा हुआ है? ज्योंही हम यहाँ से उठकर जाते हैं, वह फिर हम पर सवार हो जाता है, भले ही वह बगल में दबा हुआ चला जाय।

बिनु सत्संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।

सत्संग से मोह भागता तो है, पर मरता नहीं है। इसीलिए 'मानस' में 'बहुकाल' शब्द भी जोड़ दिया गया। सत्संग से कुछ समय के लिए तो मोह भागेगा, पर वह न जाने कब लौट आये। दीर्घकाल तक सत्संग करने से ही मोह भंग होगा –

तबहिं होइ सब संसय भंगा।
जब बहुकाल करिय सत्संगा।। ७/६१/४

मोह का भागना और मोह का भंग होना – दोनों में पार्थक्य है। बालि के हाथों रावण की पराजय को लोगों ने बड़ा महत्त्व दिया। स्वाभाविक भी है, क्योंकि रावण सबको हरा देता था। पर इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि एक क्षण ऐसा भी आया जब मोह सत्कर्म के सामने पराजित हो गया। पर इसमें व्यंग्य क्या है? बालि ने रावण को हरा तो दिया, पर मारा नहीं, अपितु उसे अपने बगल में दबा लिया। कब तक? छह महीने तक उसे अपने बगल में दबाये संसार की परिक्रमा करता रहा। उसका क्या उद्देश्य था? पुण्यात्माओं में पायी जानेवाली वही दुर्बलता! – बालि ने मोह को परास्त करने में सफलता तो पा ली, पर उसे लगा कि मेरे इस महान् विजय को तो किसी ने देखा नहीं। यदि मैं लोगों से कहूँ कि मैंने रावण को हरा दिया, तो पता नहीं लोग विश्वास करेंगे या नहीं, इसलिए बगल में प्रमाण-पत्र दबाये घूम-घूमकर दिखा रहा था – देख लो, मैं कितना बड़ा पुण्यात्मा हूँ, मैंने बुराई को परास्त कर दिया है। उसने रावण रूपी बुराई को मिटाया नहीं, बगल में दबा लिया है और साथ ही उसका प्रदर्शन भी चल रहा है।

इसके बाद बालि ने रावण को मित्र बना लिया और वह जाकर लंका में शासन करने लगा। कैसा अनोखा व्यंग्य है? रावण जहाँ का तहाँ! शासन तो बालि नहीं, रावण ही करता है। ऐसी स्थिति में रावण को हराकर बालि को अभिमान भले ही हो गया हो, आत्मसन्तोष भले ही मिल गया हो, पर रावण का कुछ नहीं बिगड़ा। रावण तो अपने स्थान पर यथावत् है। तात्पर्य यह है कि मोह को मिटाना बड़ा कठिन कार्य है।

इन्द्र के जितने रूप हैं, उन सबमें यह दुर्बलता पग पग पर दिखाई देती है। यह दुर्बलता है – इन्द्र के चरित्र में अभिमान तथा ईर्ष्या की वृत्ति। जहाँ पर सत्कर्म है, वहाँ अभिमान की आशंका बनी रहती है। और ईर्ष्या की वृत्ति! – आप अपने सत्कर्म के द्वारा किसी उच्च पद को पा लें, तो इसके साथ यह भय भी बना रहेगा कि कहीं आपको इस पद से हटना न पड़े। दूसरा भय यह कि हमारे पद पर कोई दूसरा न बैठ जाय। बेचारे इन्द्र इस भय से मुक्त नहीं हो पाते। ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, जिनमें इन्द्र की यह दुर्बलता प्रगट होती है। यह मानो भोग, सत्ता और पद के सहज-स्वाभाविक दोष हैं, जो इन्द्र के चरित्र में दिखाई देते हैं। और इसी का प्रतिबिम्ब बालि के चरित्र में है। आगे चलकर हम पाते हैं कि बालि अपने सिंहासन पर सुग्रीव को बैठा हुआ देखकर आग-बबूला हो जाता है। इसका तात्त्विक अभिप्राय यही है कि इन्द्र के रूप में भी यदि वह किसी अन्य को पुण्य करते हुए देखता है, तो ईर्ष्या से जल उठता है। पुराणों में ऐसी कई कथाएँ आती हैं। कोई यज्ञ करने चला, तो इन्द्र ने घोड़ा चुरा लिया या यज्ञ में बाधा डाल दी। यह ईर्ष्या-वृत्ति भी इन्द्र में दिखाई देती है।

श्रीमद्भागवत और रामायण दोनों में इन्द्र और देवताओं के इस पक्ष को रखा गया है। भागवत की कथा आपने सुनी होगी – व्रजवासी इन्द्र की पूजा किया करते थे। एक बार भगवान श्रीकृष्ण ने पूछा कि यह इतनी बड़ी तैयारी किसलिए हो रही है। लोग बोले – हम लोग इन्द्र की पूजा करते हैं, उसी की हो रही है। भगवान ने ऐसा भाषण दिया कि उन लोगों के मन में यह बात आ गयी कि अब हम इन्द्र की पूजा छोड़कर गिरिराज गोवर्धन की पूजा करेंगे। श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा बन्द करा दी। भगवान का उद्देश्य क्या किसी की पूजा बन्द कराना था? यदि इन्द्र की पूजा हो रही थी, तो होने देते। परन्तु यह तो इन्द्र पर भगवान की महती कृपा है।

एक तो ईर्ष्या के कारण पूजा बन्द कराई जाती है कि भगवान को इन्द्र से ईर्ष्या हो जाय कि उनकी पूजा क्यों हो रही है? पर भगवान क्या चाहते हैं? यह प्रसंग साधारण दृष्टि से देखने पर तो द्वेषपरक लगता है, पर यह भगवान की इन्द्र पर सबसे बड़ी कृपा है। इससे इन्द्र के स्वभाव का वह दोष प्रगट हो गया। ज्योंही इन्द्र को पता चला कि व्रजवासी मेरी पूजा बन्द करके पर्वत की पूजा कर रहे हैं, तो वे क्रोध में उन्मत्त हो

गये – अच्छा, यह छोटा-सा बालक कृष्ण इतना ढीठ हो गया है? भगवान पर भरोसा होना इतना आसान नहीं है। इन्द्र जैसे बड़े बड़े लोग भी उनकी महिमा भूलकर भ्रम में पड़ जाते हैं।

रामायण में भी इन्द्र के सन्दर्भ में यही बात आती है। इन्द्र ने भगवान राम के लिए रथ कब भेजा? जब कुम्भकर्ण मारा गया, मेघनाद मारा गया, बड़े बड़े योद्धा मारे गये और रावण से भगवान की पहले दिन की लड़ाई समाप्त हो गयी, तब कहीं जाकर इन्द्र ने रथ भेजा। इतना बिलम्ब करने के पीछे इन्द्र का मनोविज्ञान क्या है? वही अभिमान और संशय। इन दोनों से मुक्ति पाना बड़ा कठिन है। ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास हो जाय, रंचमात्र संशय न रह जाय, अभिमान न रह जाय। इसी अभिमान और संशय के कारण इन्द्र रथ भेजने में बिलम्ब करते हैं। संशय क्या है? इन्द्र स्वर्ग में बैठे निरन्तर युद्ध को देख रहे हैं। राम और रावण का युद्ध चल रहा है, पर अभी तक इन्द्र को राम की महिमा पर पूरी आस्था नहीं है। युद्ध में तरह तरह के उतार-चढ़ाव आते देखकर इन्द्र को लगता है कि कहीं रावण ही तो नहीं जीत जायेगा? ऐसा न हो कि हम रथ भेज दें और रावण बाद में हमारी खबर ले कि अच्छा, तुमने भी रथ भेजा था? इसलिए उन्होंने रथ नहीं भेजा, पर जब देख लिया कि अब तो निश्चित रूप से श्रीराम की विजय हो रही है और वे ऐसे भी जीत ही जायेंगे, तब सोचने लगे कि अब यदि रथ नहीं भेजेंगे तो कहने को हो जायेगा कि इस महान् युद्ध में इन्द्र ने भगवान को कोई सहयोग नहीं दिया।

रामायण में दिखाई देता है कि इन्द्र का चरित्र कितना संशयात्मा है! इसके साथ ही वे अभिमानी भी कम नहीं हैं। यदि कोई कहता भी कि आप श्रीराम के लिए रथ क्यों नहीं भेजते, तो उनका उत्तर होता – श्रीराम को यदि रथ की जरूरत हो, तो उन्हें मुझसे माँगना था, मेरे पास सन्देश भेजना था। कहा गया है कि राम बड़े संकोची हैं, तो इन्द्र ने तर्क दिया कि जब वे केवट जैसे छोटे-से व्यक्ति से नाव माँगने में संकोच नहीं करते, तो मुझसे रथ माँगने में कैसा संकोच? क्या मैं केवट से भी गया-बीता हूँ? यह है इन्द्र की वृत्ति।

फिर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा पूजा बन्द करा देने पर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया – "अच्छा, तो यह बालक मेरी पूजा बन्द कराकर एक पहाड़ की पूजा करा रहा है? वेदों में तो गोवर्धन-पूजा के नहीं, मेरी ही पूजा के मंत्र हैं।" इन्द्र क्रोध से उबल रहे हैं, पर भगवान तो उन पर कृपा करके उनका अभिमान दूर कर रहे थे। इन्द्र यदि भावुक होते, तो समझ जाते कि सचमुच व्यक्ति बड़ा नहीं है। भगवान पर्वत की पूजा क्यों करा रहे हैं? वस्तुत: पूज्य तो ईश्वर हैं और वे अपने संकल्प से चाहे जिसे पूज्य बना देते हैं। व्यक्ति में अपनी पूज्यता कुछ भी नहीं होती। यदि इन्द्र में यह वृत्ति आती, तो वे धन्य हो जाते।

शंकरजी के मन में तो यही वृत्ति आयी। भगवान राम ने जब रामेश्वर में उनकी मूर्ति स्थापित करके पूजा की, तो पार्वती ने पूछा – महाराज, रावण की पूजा लेने तो आप लंका चले जाते हैं, लेकिन भगवान राम ने पूजा की, तो आप पूजा लेने नहीं गये और उन्हें मूर्ति बनाकर पूजा करनी पड़ी। रावण चैतन्य की पूजा करता है और श्रीराम को जड़ मूर्ति की पूजा करनी पड़ी। यह क्या बात है? शंकरजी ने हँसकर कहा – "पार्वती तुम समझी नहीं। रावण तो मुझ चैतन्य को देखकर चैतन्य नहीं देख पाता, लेकिन हमारे प्रभु तो इतने बड़े हैं कि वे जिस पत्थर को छू दें, वही शंकर बन जाता है। उन्हें मेरी जरूरत नहीं है, उनका तो स्पर्श ही ऐसा है कि वह एक रेत-कण को भी शंकर बना देता है।

इन्द्र भी भगवान शंकर की तरह यह अर्थ ले सकते थे कि भगवान जिसकी पूजा करना चाहें, वह पूज्य हो जाता है, परन्तु अभिमान के कारण वे क्रोध में भरकर सारे व्रज को नष्ट करने पर तुल गये। उन्होंने सारे मेघों को आज्ञा दी कि घोर वर्षा करके व्रज को डुबा दो। तब भगवान श्रीकृष्ण ने गोवर्धन धारण कर व्रज की रक्षा की। यह भक्तों की रक्षा तो थी ही, पर वहाँ साधना का एक क्रम है। भगवान ने अपनी कनिष्ठा अँगुली पर गोवर्धन को उठाया, पर ग्वाल-बालों से कहा कि तुम लोग भी अपनी लठिया और अपने अपने हाथ लगा दो। यह साधन और कृपा का सामंजस्य है। भगवान के ऊपर विश्वास के साथ साथ भगवान के आदेश से स्वयं भी सेवा-कार्य करना। यह अभिमान ही तो इन्द्र का दोष था। जब वर्षा से व्रजवासियों का कुछ भी नहीं बिगड़ा, तब वे अपना अभिमान छोड़कर भगवान के चरणों में गिर पड़ते हैं। इन्द्र की समस्या यही है। उन्होंने रथ भेजा, तो स्वयं भेजा, प्रभु ने नहीं मँगाया। उन्हें रथ की क्या जरूरत? पर जब इन्द्र ने भेजा, तो प्रभु ने उसे स्वीकार किया। यही है उनकी महानता और साधना का भी यही सत्य है।

आपके लिए यदि कोई समय पर सवारी न भेजकर बाद में भेजे, तो आप बिगड़कर कहेंगे – ले जाओ अपनी गाड़ी, हमें नहीं चाहिए। हजार में से नौ सौ निन्यानबे लोग यही जबाब देगें। लेकिन जब इन्द्र का रथ आया, तो आवश्यकता न होते हुए भी भगवान ने उसे स्वीकार किया। यह नही कहा – ले जाओ अपना रथ, हमें नहीं चाहिए। भगवान तो प्रसन्न होकर बोले – यह रथ क्या इन्द्र ने भेजा है? स्वागत है। और वे उस रथ पर बैठ गये। भगवान का अभिप्राय मानो यह था कि भाई, सत्कर्म में कुछ-न-कुछ कमियाँ तो रहती ही हैं, पर उसका यह अर्थ नहीं कि उस पुण्य या सत्कर्म का, उस सेवा का हम तिरस्कार करें। केवल अभिमान ही तो बाधक था, यदि वह हट गया, तो ये जितने सत्कर्म तथा सद्गुण हैं, उन्हें

जीवन में स्वीकार करना चाहिए। भगवान राम ने इन्द्र के रथ को स्वीकार किया और उस रथ पर बैठकर रावण से युद्ध किया। दोनों का सन्तुलन बना हुआ है। सत्कर्म में अभिमान का मिटना भी जरूरी है और अभिमानरहित सेवा को स्वीकार कर उसका सदुपयोग करना भी अपेक्षित है। बाद में तो बेचारे इन्द्र बड़े लज्जित हुए। वे तो ग्लानि में डूबते जा रहे थे कि इतने दिनों तक मैंने रथ नहीं भेजा, केवल युद्ध के अन्तिम दिन के लिए ही रथ भेजा। पता नहीं भगवान मेरे बारे में क्या सोच रहे होंगे? पर प्रभु तो बड़े उदार हैं न! युद्ध समाप्त हो जाने पर इन्द्र ने बड़े लजाते हुए आकर प्रभु को प्रणाम किया। बोले – महाराज, कोई सेवा हो तो बताइए। प्रभु ने तत्काल सेवा बता दी। कहा – इन्द्र, तुम तो बड़े सुजान हो। इन बन्दरों ने मेरे लिए प्राण त्यागे हैं। इन्हें जीवित कर दो –

मम हित लागि तजे इन्ह प्राना।
सकल जिआउ सुरेस सुजाना ।। ६/११४/२

सुजान! इन्द्र की उपाधि में बड़ा परिवर्तन आता रहता है, कोई ठिकाना नहीं कि कब उन्हें सुजान बना दिया जायेगा और कब अजान। इसके पहले उनके लिए कहा गया है -- जैसे मूर्ख कुत्ता अपनी सूखी हड्डी को लेकर भागता है –

सूखा हाड़ लै भाग सठ
स्वान निरखि मृगराज। १/१२५

और अब यह उपाधि दी जा रही है। कभी कभी श्रीराम की ओर से गोस्वामीजी इन्द्र की आलोचना भी करते हैं। भगवान राम जब दुल्हे के वेश में आये और इन्द्र उनका दर्शन करने आये, तो गोस्वामीजी ने प्रसन्न होकर वही उपाधि दे दी –

रामहि चितव सुरेस सुजाना। १/३१७/६

सुजान इन्द्र! इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जब इन्द्र अपने सत्कर्म और पुण्य का उपयोग भोगों में करते हैं, ईर्ष्या तथा अभिमान में करते हैं, तब वे अयाने हैं और जब भक्ति में करते हैं, भगवान की सेवा में करते हैं, तब इससे बढ़कर सयानापन और क्या होगा? भगवान बोले – इन्द्र, तुम तो बड़े सुजान हो; इन बन्दरों को जीवित कर दो। पार्वतीजी ने बड़े विस्मय के साथ शंकरजी से पूछा – "महाराज, भगवान राम ने इन्द्र से क्यों कहा? क्या वे बन्दरों को स्वयं जीवित नहीं कर सकते थे?" भगवान शंकर हँसते हुए बोले – इन बन्दरों की क्या, वे तो तीनों लोकों को मार और जिला सकते हैं, लेकिन वे इन्द्र को बड़प्पन देना चाहते हैं –

प्रभु सक त्रिभुअन मारि जिआई।
केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ।। ६/११४/४

यह एक नयी बात, बड़प्पन छीनना नहीं, अभिमान छीनना। भगवान कहते हैं – इन्द्र अभिमानरहित होकर ऐसी सेवावृत्ति से अमृत की वर्षा करे, जिससे ये जितने साधन मरे पड़े हैं, वे सब जीवित हो उठें। गोस्वामीजी के शब्दों में ये बानर साधन हैं। इससे बड़ा इन्द्र के अमृत का सदुपयोग नहीं हो सकता।

जिन तत्त्वों के कारण देवताओं की निन्दा और प्रशंसा की गयी है, वे ही तत्त्व इन्द्र के अंश से जन्मे बालि में भी हैं। अभिमान तथा प्रदर्शन की वृत्ति के कारण ही वह रावण से युद्ध कर उसे पराजित करता है और उसे बगल में दबाये हुए सारे संसार में घूमता रहता है। क्या उसे ब्रह्मा की बात याद नहीं थी कि भगवान अवतार लेंगे? बिल्कुल याद थी। रामायण में आप पढ़ते हैं कि तारा के रोकने पर बालि ने कहा था कि राम साक्षात् भगवान हैं। इसका अर्थ है कि बालि को पता था कि भगवान अवतार लेंगे। लेकिन भगवान के अवतार के पहले ही रावण को हराने में भी उसकी वही अभिमान की वृत्ति थी कि ब्रह्माजी ने कहा है कि श्रीराम के साथ जाकर रावण को हराना, पर यदि मैं श्रीराम के साथ जाकर रावण को हरा भी दूँगा, तो कीर्ति तो राम की ही होगी, हमें तो कोई विजेता मानेगा नहीं। दूसरी ओर भगवान अपनी कीर्ति को बाँटने के लिए इतने व्यग्र हैं कि युद्ध समाप्त होते ही वे बन्दरों से कहते हैं – तुम्हारे बल से ही मैं रावण को मार सका –

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्यो ।। ६/११८/४

इन्द्र तो बेचारे लज्जा में गड़ गये। सोचने लगे – मैं तो समझ रहा था कि सारा यश-कीर्ति वे स्वयं ले लेंगे। इस तरह इन्द्र का अंश होने के नाते बालि के जीवन में वे सारे दोष विद्यमान थे, जो पुण्य तथा सत्कर्म के साथ जुड़े हुए हैं। लेकिन बालि ने उन दोषों को मिटाकर अपने जीवन में ज्ञान और भक्ति का चरम फल पाया; ज्ञान के द्वारा मुक्ति का और अंगद के समर्पण के माध्यम से जो महानतम कार्य बालि के द्वारा हुआ, वह भक्ति का फल पाया।

भगवान बालि से बोले – तुम जीवित रहो और सेवा करो। बालि ने कहा, "महाराज, मैं इस अभिमानी शरीर से सेवा नहीं करूँगा। इस देह से मुझे अब मुक्ति दें।" – तब? – यह मेरा पुत्र मेरा ही रूप है, मेरे ही समान बली है, इसे रख लीजिए। और इसके साथ बालि ने एक शब्द और जोड़ दिया – मेरा पुत्र मेरे ही समान बलवान तो है, पर एक अन्तर है, मुझमें बल के साथ अभिमान था और इसमें बल के साथ विनय है –

यह तनय मम सम बिनय बल ... । ४/१०/छ.

अंगद बालि के अंश से जन्म लेता है, इसका अभिप्राय यह है कि वह पुण्य और सत्कर्म का प्रतीक तो है ही, पर इस सद्गुण और सत्कर्म जो अभिमान था, जिस अभिमान से बालि बड़ी कठिनाई से मुक्त हो पाया, जिससे मुक्त करने के लिए भगवान को प्रयास करना पड़ा, उस अभिमान के दोष से अंगद पहले से ही मुक्त है। यह अभिमानरहित पुण्य और सत्कर्म का चरित्र है, बालि के द्वारा समर्पित चरित्र है, पर इसके बावजूद अंगद के चरित्र में कुछ दुर्बलताएँ हैं, पर धीरे धीरे अंगद का चरित्र निखरता है, बड़ा ऊपर उठता है। ❖ (क्रमशः) ❖

मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-निर्माता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य सामान्यतः भाग्यवादी होता है। 'भाग्य' शब्द से ऐसा कुछ ध्वनित होता है, जिस पर मनुष्य का बस न चलता हो, जो उसके जीवन का ऐसा तत्त्व हो, जो बाहर से उस पर लादा गया हो। पर वह भाग्य नहीं है। भाग्य का असल तात्पर्य है प्रारब्ध, और यह प्रारब्ध हमारे स्वयं का बनाया होता है। अतएव अपने भाग्य का निर्माण हम स्वयं करते हैं, इसके लिए अन्य कोई दूसरा उत्तरदायी नहीं होता।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – साधारणतः मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर भाग्य नामक एक 'भूत' की कल्पना करता है और उसी को उन सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है। पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक वह वस्तु है क्या और कहाँ है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं, और यदि हमारे भाग्य अच्छे हों, तो भी दूसरा प्रशसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या यह वायु का दोष है? अतः भाग्य और कुछ नहीं, पूर्वजन्म में हमारे द्वारा किये गये कर्मों का ही फल है। और जब यह मान लिया जाय कि हमारे जीवन में आनेवाले कष्ट हमारे अपने ही कर्मों के फल हैं, तो यह भी स्वयंसिद्ध हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसे हम नष्ट नहीं कर सकते।

इसलिए स्वामी विवेकानन्द हमारा आह्वान करते हुए कहते हैं - अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। '**गतस्य शोचना नास्ति**' – सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य (सस्कार के रूप में) संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत् विचार और असत् कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत् विचार और सत् कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।

यह एक विडम्बना है कि मनुष्य को जब सफलता मिलती है तब वह भाग्य की बात नहीं करता, पर जब वह असफलता का शिकार होता है, तब भाग्य की बातें करने लगता है। इसका स्पष्ट अर्थ तो यही है कि सफलता में उसे अपना पुरुषार्थ दिखाई देता है, पर असफलता का दोष वह अपने पुरुषार्थ की कमी में नहीं देखता। असफल व्यक्ति में भाग्यवादी बनने की प्रवृत्ति होती है और वह अकर्मण्यता की ओर जाने लगता है। स्वामी विवेकानन्द असफलता को भी सकारात्मक मानते हैं, कहते हैं – असफलताओं से निराश न होओ! उनके बिना जीवन भला क्या होता! असफलताओं से ही ज्ञान का उदय होता है। अनन्तकाल हमारे सम्मुख है – फिर हम हताश क्यों हों! दीवाल को देखो। क्या वह कभी मिथ्या भाषण करती है? पर उसकी उन्नति भी कभी नहीं होती – वह दीवाल की दीवाल ही रहती है। मनुष्य मिथ्या भाषण करता है, किन्तु उसमें देवता बनने की भी क्षमता है। नर नारायण भी बन सकता है। इसलिए हमें सदैव क्रियाशील – प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। गाय कभी झूठ नहीं बोलती, पर वह सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिए क्रियाशील बनो, कुछ-न-कुछ करते रहो।

स्वामीजी पुरुषार्थ के ऐसे पक्षधर हैं कि एक स्थान पर कहते हैं – मुझे विश्वास है कि ईश्वर उस व्यक्ति को क्षमा कर दे सकता है, जो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और आस्था नहीं रखता, किन्तु वह उसे क्षमा नहीं करेगा, जो उसकी दी हुई शक्ति का उपयोग किये बिना ही विश्वास कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि हमारे अपने कर्म ही उस शक्ति का निर्माण करते हैं, जिसे 'भाग्य' के नाम से पुकारा गया है, अतएव अपने भाग्य को बनाने या बिगाड़ने का सारा दायित्व हमारा अपना है।

आचार्य रामानुज (२८)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

यादवाद्रिपति

इस प्रकार श्री रामानुज ने विठ्ठलदेव तथा सहस्रों बौद्धों को वैष्णव-धर्मावलम्बी बनाने के बाद कुछ काल वहाँ रहकर उनकी पूजा ग्रहण की और तदुपरान्त शिष्यों के साथ यादवाद्रि पहुँचे। उस स्थान को अब मेलकोट कहते हैं। १०१२ शकाब्द में उन्होंने इस पवित्र भूमि में पदार्पण किया था। उसी वर्ष के पौष महीने में शुक्ल चर्तुदशी, बृहस्पतिवार के दिन प्रात:काल वहाँ भ्रमण करते समय एक तुलसीकानन के बीच स्थित दीमकों की एक बाँबी के स्तूप के नीचे उन्होंने एक देवविग्रह देखा। उन्होंने वहाँ से उसका उद्धार करके निर्मल जल से प्रक्षालन करने के बाद, जब उसे पवित्र पीठ पर स्थापित किया, तो उस मनोहर जीवन्त मूर्ति का दर्शन करके वहाँ उपस्थित भक्तवृन्द स्वयं को कृतार्थ मानने लगे। वहाँ के वयोवृद्ध लोगों ने बताया, "हमने अपने बचपन में बड़े-बूढ़ों के मुख से सुना था कि पहले इस पर्वत पर यादवाद्रिपति की पूजा हुआ करती थी। परन्तु मुसलमानों के यहाँ आकर समस्त देवविग्रह तोड़ते रहने के कारण विष्णु-विग्रह के वे सेवक विग्रह को एक गुप्त स्थान में रखकर अन्यत्र चले गये। तब से उनकी पूजा और उत्सव बन्द हैं। हमें निश्चित रूप से लग रहा है कि ये ही वे यादवाद्रिपति हैं और आपके जैसे महापुरुष के आगमन से वे पुन: भक्तों की सेवा ग्रहण करने को उत्थित हुए हैं।" श्री रामानुज बोले, "आप लोगों ने ठीक कहा है। ये ही वे याददाद्रिपति हैं। पिछली रात स्वप्न में मेरे पास आकर इन्होंने सेवा का आदेश दिया है। आप सभी मिलकर इनके सुन्दर तथा विशाल मन्दिर के निर्माण का प्रयास करें। अब से इनकी पूजा विधिपूर्वक होती रहेगी।"

यतिराज के आदेशानुसार उनके शिष्यों तथा ग्राम के समस्त लोगों ने उसी दिन एक विशाल पर्णशाला का निर्माण किया और उसी में श्री यादवाद्रिपति की स्थापना कर सर्व प्रकार से उनकी सेवा-पूजा में लग गये। उनके प्रभाव से थोड़े दिनों के भीतर ही वहाँ एक सुन्दर तथा विशाल मन्दिर बन गया। उस मन्दिर के पास ही कल्याणी नाम का एक बृहत् सरोवर था। उसके निर्मल जल से यादवाद्रिपति की स्नान-भोग आदि क्रियाएँ सम्पन्न होने लगीं। एक दिन इसी सरोवर के उत्तरी भाग में विचरण करते समय यतिराज श्वेत मृतिका पाकर परम आनन्दित हुए, क्योंकि वैष्णवगण इसी मिट्टी से अपना ऊर्ध्वपुण्ड्र बनाते हैं। अब तक वे लोग इसे भक्तग्राम से लाया करते थे। परन्तु वहाँ इसके समाप्त हो जाने के कारण यतिराज ने अनेक लोगों को वैसी ही मृतिका की खोज में विभिन्न स्थानों को भेजा था, परन्तु कोई भी इसमें सफल नहीं हो सका था। अत: स्वयं ही उसे पाकर उनके आनन्द की सीमा न रही।

दक्षिणी भारत के प्रत्येक मन्दिर में हर देवता के दो विग्रह होते हैं। एक को 'अचल' कहते हैं, जो मन्दिर से कभी बाहर नहीं आते और दूसरे को 'सचल' कहा जाता है, जिन्हें उत्सव के समय विमान में बाहर लाया जाता है। इसी कारण इन्हें उत्सव-विग्रह भी कहते हैं। श्री रामानुज को एक बार स्वप्न में श्री यादवाद्रिपति का आदेश मिला, "वत्स रामानुज, मैं तुम्हारी सेवा से अतिशय प्रसन्न हूँ। परन्तु मेरा उत्सव-विग्रह न होने के कारण मैं मन्दिर के बाहर जाकर भक्तों एवं पतितजनों को निर्मल तथा आशीर्वादयुक्त नहीं कर पाता, अतएव तुम यथाशीघ्र दिल्ली जाकर वहाँ सम्राट् के पास रक्षित मेरे सम्पत-कुमार नामक द्वितीय विग्रह को ले आओ।"

स्वप्न में ऐसा आदेश पाकर श्री रामानुज ने अगले दिन प्रात:काल अपने कुछ शिष्यों को साथ लेकर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। दो माह बाद वे उस नगर में जा पहुँचे। कहते हैं कि वहाँ के तत्कालीन सम्राट् उनकी अंगकान्ति, विद्वत्ता तथा प्रभाव देखकर परम सन्तुष्ट हुए और उनके आगमन का कारण पूछा। इस पर उन्होंने सम्पत-कुमार नामक देवविग्रह की याचना की। दिल्लीश्वर द्वारा उसे ले जाने की अनुमति प्रदान करने पर उन्हें देवशाला में ले जाया गया। वहाँ भारतवर्ष के अनेक देवालयों से लूटे हुए विग्रह संग्रहित थे। वहाँ इस छोर से उस छोर तक ढूँढ़ने पर भी श्री रामानुज को अपना इच्छित विग्रह नहीं मिला। इस पर जब सम्राट् ने अपनी पुत्री का परमप्रिय एक देवविग्रह श्री रामानुज को दिखाया, तो वे तत्काल ही उसे सम्पतकुमार के रूप में पहचान गये और दिल्लीश्वर की अनुमति से उसे लेकर उन्होंने अपने शिष्यों के साथ स्वदेश की ओर प्रस्थान किया। वे बिना विश्राम के दिन-रात चलते रहे, क्योंकि यतिराज को पूर्ण विश्वास था कि राजकुमारी जब उक्त विग्रह के लिए व्याकुल होगी, तो वात्सल्य-परायण सम्राट् उसे फिर वापस ले लेंगे।

इधर राजकन्या ने जब सुना कि उसकी परमप्रिय वस्तु कोई

ब्राह्मण लेकर चला गया है, तो उसके दुख की सीमा न रही। वह शोक से अधीर हो पड़ी। पिता द्वारा तरह तरह से समझाने पर भी कोई फल नहीं हुआ। वह दिन-पर-दिन उन्मादग्रस्त के समान होती गयी। इससे डरकर सम्राट् ने सेना की एक टुकड़ी को आदेश दिया, "तुम लोग शीघ्र ही ब्राह्मण के हाथ से मूर्ति को छीन लाओ।" इस पर राजकन्या ने कहा, "पिताजी, मुझे भी उनके साथ जाने की अनुमति दीजिए।" कन्यावत्सल सम्राट् पुत्री की बात पर राजी हो गये और अनेक दास-दासियों के साथ एक सुसज्जित पालकी में बैठाने के बाद उसे सेनानायिका बनाकर भेज दिया। उन्हीं दिनों कुबेर नामक एक राजकुमार सम्राट् की पुत्री के रूप पर मुग्ध होकर उसका पाणिग्रहण करने की इच्छा से काफी काल से उसी महल में रहता था और अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करने की कामना से विविध प्रकार से उसकी सेवा में लगा रहता था। जब उसने सम्राट् की पुत्री लचिमार बीबी को उन्मादग्रस्त के समान देवविग्रह के पीछे दौड़ते देखा, तो वह भी अपनी प्रियतमा के विरह में आकुल होकर उसका अनुसरण करने लगा।

इधर शिष्यों के साथ श्री रामानुज ने अविराम यात्रा करते हुए सम्राट् की राजसीमा पार कर ली। उनका पीछा करने वाली लचिमार बीबी तब भी काफी पीछे थी। थोड़े ही दिनों में यतिराज श्री सम्पत-कुमार को लेकर मेलकोट अर्थात् यादवाद्रि पहुँचे और उन्होंने श्री विष्णु के उत्सव-विग्रह को मन्दिर के भीतर एक अति गोपनीय स्थान में प्रतिष्ठित कर दिया। रास्ते में उन्हें चाण्डालों से भी विशेष सहायता मिली थी। ये लोग यदि सम्पत-कुमार को वहन करके न लाते, तो श्री रामानुज निश्चित रूप से सम्राट् की सेना के हाथों पड़ जाते। इसी कारण आज भी वर्ष मे तीन दिन चाण्डालों को भी श्री यादवाद्रिपति के मन्दिर में जाने का अधिकार मिला हुआ है।

श्रीहरि के अखण्ड, अनन्त, अद्वितीय, निराकार स्वरूप के समान ही उनके असंख्य साकार रूप भी नित्य हैं। इन साकार मूर्तियों में से कोई कोई कभी कभी धराधाम पर अवतीर्ण होकर धर्मग्लानि को दूर करके मानवमात्र का कल्याण किया करती हैं। फिर कोई कोई अर्चा या प्रतिमा के रूप में अवतीर्ण होकर सृष्टि के अन्त तक भक्तों की पूजा ग्रहण करते हुए उनकी मनोकामना पूर्ण किया करती हैं। इन समस्त पवित्र भगवद्-विग्रहों को श्रीहरि का अर्चावतार कहा जाता है। अमरनाथ, केदारनाथ, बदरीनारायण, चन्द्रनाथ, जगन्नाथ, द्वारकानाथ, श्रीनाथ, श्रीरामनाथ, ॐकारनाथ, पशुपतिनाथ, तारकनाथ, हिंगलाजेश्वरी, कालिका-माता आदि के समान ही श्री यादवाद्रिनाथ भी एक अर्चावतार हैं।

उन्हीं के सचल या उत्सव विग्रह सम्पत-कुमार को लाते समय सम्राट्पुत्री ने श्री रामानुज का पीछा किया था। सामान्य लोगों की स्थूल दृष्टि में सम्भव है वह देवविग्रह अन्य विग्रहों से किसी प्रकार से अलग न प्रतीत हो, पर यतिराज सूक्ष्मदर्शी थे। वे जानते थे कि साक्षात् श्री विष्णु ही अर्चारूप में अवतीर्ण होकर परम भक्तिमती सम्राट्कन्या लचिमार बीबी को कृतार्थ करने के लिए उनके पिता के हाथों बन्धित हुए थे और इस प्रकार राजभवन में पहुँचकर उससे मिले थे। अनेक जन्मों से अर्जित प्रगाढ़ भक्ति के बल से दिव्य दृष्टि पाकर लचिमार बीबी ने सम्पत-कुमार को अपने अभीष्ट-देवता के रूप में पहचान लिया था और उन्हें पतिरूप में वरणकर वे परमानन्द सागर में निमग्न रहती थीं। अतएव जब श्री रामानुज ने उनके प्रियतम को उनके पास से लेकर उन्हें अपार शोक-सागर में डूबा दिया, तब उनके तीव्र विरह के आवेग में उन्मादिनी होकर अपने इष्टदेव की खोज में जीवन उत्सर्ग कर देने के उनके संकल्प में आश्चर्य की क्या बात? स्थूलदर्शी सम्राट् ने इसे समझ न पाने के कारण अपनी पुत्री को उन्माद-ग्रस्त माना और वात्सल्य से वशीभूत होकर उन्होंने सोचा कि शायद अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाने से उसका उन्माद शान्त हो जाय, अतः उन्होंने सेना के साथ उसे श्री रामानुज का पीछा करने की अनुमति दे दी थी।

सम्राट् की पुत्री अपनी विपुल सेना के साथ बिना भोजन-विश्राम किये अपने प्रियतम विग्रह की खोज में निरन्तर दक्षिण की ओर चलती रही, परन्तु पिता के राज्य की सीमा पार करके भी जब उसे उनका खोज-खबर नहीं मिला, तो उसने प्राण त्यागने का संकल्प किया। विरह के ताप से उनके हृदय का मर्मस्थल दग्ध हो रहा था, नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी और उसे कैसे भी धीरज नहीं बँध रहा था। कुबेर की सांत्वना-वाणी का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह केवल 'हा नाथ, हा नाथ' – कहकर अपने हृदय की असह्य वेदना व्यक्त करने लगी। एक रात सेना को बिना बताये ही उसने दक्षिण की ओर के गहन वन में प्रवेश किया। कुबेर ने उसका पीछा किया। उन्मादिनी के समान बिना किसी ओर ध्यान दिये, एकमात्र अपने आराध्य का ध्यान करते हुए वह दक्षिणापथ की ओर चलने लगी। कुबेर बीच बीच में जंगली फल-मूल एकत्र करके उसके पास ले आता और वह इसके द्वारा अपनी भूख-प्यास का किंचित् शमन करते हुए अविश्रान्त भाव से प्रियतम की खोज में चलती रहती। केवल रात हो जाने पर रास्ता दिखाई न देने के कारण उसे ठहरने को बाध्य होना पड़ता।

इस प्रकार अनेक दिन यात्रा करने के बाद वह मेलकोट या यादवाद्रि पहुँची। नेत्रवालों के लिए सूर्य का प्रकाश देखने को किसी सहायता की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार उस हरिभक्ति-परायणा, ज्ञानांजन से विमल हुए नेत्रोंवाली राजकुमारी को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय सम्पत-कुमार से मिलने में

किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं हुई। उसके प्राणों की अनन्य व्याकुलता एवं प्राणेश्वर के अदम्य आकर्षण के फलस्वरूप शीघ्र ही उसकी चिराकांक्षित मिलन की आशा पूर्ण हुई। नदी मानो आकर सागर से मिल गयी। भूख से मृतप्राय व्यक्ति अमृत से भरा पात्र पाकर जैसे सन्तोष का अनुभव करता है, उसे उससे भी अधिक तृप्ति का बोध हुआ। उसकी अलौकिक भक्ति देखकर यतिराज तथा शिष्यगण विस्मित रह गये और मुसलमान कुल में जन्मी होने के बावजूद उसे मन्दिर के भीतर जाने से मना नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि सच्चे भक्त की कोई जाति नहीं होती।

लचिमार बीबी का संसार-वन में भ्रमण समाप्त हो चुका था, उसके प्राणों की साध पूरी हो चुकी थी। उनके जीवन का बचा हुआ अंश उस प्रिय-समागम-जनित दिव्य-सम्भोग के अनिर्वचनीय सुख में व्यतीत हुआ। अन्ततः उनका पूत अंग श्रीमत् सम्पत-कुमार के अंग में विलीन हो गया। राजकुमार कुबेर अपने अभीष्ट देवता के समान ही लचिमार की सेवा किया करते थे। वे किसी अन्य देवता की उपासना नहीं करते थे। अपनी हृदय-राजेश्वरी के सम्पत-कुमार के अंग में विलीन हो जाने के बाद वे उस स्थान पर एक पल भी नहीं ठहर सके। समस्त यावनिक भाव त्यागकर वे अपनी यवन-देह शुद्धि करने की इच्छा से श्रीरंगम गये और श्री रंगनाथ स्वामी की शरण ली। मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार न होने पर भी, उन्होंने बाहर से ही अनन्य मन के साथ शेषशायी नारायण के पादपद्मों में आश्रय लिया। वे भिक्षा के लिए कहीं घूमने नहीं जाते। यदि कोई उन्हें कुछ दे देता, तो अपनी भूख-प्यास के निवारणार्थ वे उसी में से थोड़ा कुछ ग्रहण कर लेते।

इसी प्रकार यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट होकर मौन भाव से कुछ काल बिताने के बाद एक दिन गम्भीर ध्यान के समय उन्हें सुनाई पड़ा –

प्रपन्न-मोक्षदानेऽहं दीक्षितो यवनेश्वर।
पतितानां मोक्षदाने जगन्नाथः प्रदीक्षितः॥[१]

– अर्थात् "हे यवनेश्वर, मैं शरणागत वैष्णवों को मोक्षदान करने में दीक्षित हुआ हूँ और जगन्नाथ पतितों को मोक्षदान करने में दीक्षित हुए हैं।"

ऐसा निर्देश पाकर यवन भक्त ने अगले दिन प्रातःकाल ही जगन्नाथ-क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया। कुछ माह बाद वे पुरीधाम पहुँचे और पतितपावन श्री पुरुषोत्तम की कृपा से दिव्य-चक्षु पाकर कृतार्थ हुए। विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गो, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल आदि समस्त जीवों के भीतर एकमात्र परमात्मा की उपलब्धि के द्वारा सर्वत्र समदर्शन की सामर्थ्य अर्जित करके वे पण्डित पद के सच्चे अधिकारी हुए।

१. प्रपन्नामृतम्, ४८/२९-३०

एक बार महात्मा कुबेर तवे के ऊपर गेहूँ की रोटी बना रहे थे। उसी समय एक कुत्ता आया और सहसा रोटी को लेकर भागने लगा। इस पर वे घी का पात्र हाथ में लिए यह कहते हुए उसके पीछे दौड़ने लगे, "हे नारायण, जरा ठहरिए। रोटी में घी चुपड़ लेने दीजिए, नहीं तो आपको खाने में कष्ट होगा।"

जब तक देहात्म-बोध रहता है, तब तक मनुष्य जातित्व के अभिमान से कदापि मुक्त नहीं हो सकता। देह में ही नाम, वर्ण तथा आश्रम का अधिष्ठान है। देह ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज, पारसी, हिन्दू आदि नामों से अभिहीत हुआ करती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो व्यक्ति देह को ही अपना सच्चा स्वरूप समझकर भी जातिभेद के प्रति निन्दासूचक कटाक्ष करता है, वह कभी निर्मल बुद्धि द्वारा परिचालित नहीं हो सकता। लचिमार बीबी तथा कुबेर भगवत्कृपा से देहात्मबोध से मुक्त हो गये थे, अतएव उनमें जातित्व का बन्धन नहीं रह गया था और श्री रामानुज ने भी परम भक्त मानकर उन्हें सम्मानित किया था। आज भी सम्राट्-पुत्री का पवित्र विग्रह दक्षिण के प्रत्येक वैष्णव-मन्दिर में पूजित होकर हिन्दूधर्म की सार्वभौमिकता प्रकट कर रहा है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मनोबल में वृद्धि के उपाय

स्वामी सत्यरूपानन्द

समाज में कई बार हमको यह देखने को मिलता है कि अभाव-ग्रस्त तथा साधनहीन व्यक्ति कई महत्वपूर्ण तथा अत्यंन्त उपयोगी कार्यों को करने में सफल होकर समाज और राष्ट्र का हित साधन करते हैं तथा स्वयं के जीवन को भी सार्थक और सफल कर लेते हैं।

दूसरी ओर धन तथा साधन सम्पन्न व्यक्ति जीवन में कुछ विशेष नहीं कर पाते। जीवन के किसी भी क्षेत्र में वे लोग दक्षता या विशेषता प्राप्त नहीं कर पाते। उनका जीवन अत्यन्त साधारण और सामान्य ही रह जाता है। जीवन में कोई विशेष उपलब्धि नहीं हो पाती। वह सार्थक या सफल नहीं हो पाता।

क्या कारण है इस प्रकार के अन्तर का?

यदि ऐसे व्यक्तियों के चरित्र का अध्ययन करें। उनके चरित्र का विश्लेषण करें, तो हम पाएँगे कि उनके जीवन की सफलता और असफलता का कारण मनोबल का कम और अधिक होना है। संकल्प का दुर्बल और दृढ़ होना है।

मानव-जीवन की सफलता एवं असफलता इसी मनोबल पर निर्भर करती है। जिसका मनोबल जितना प्रबल होगा, जिसका संकल्प जितना दृढ़ होगा, वह व्यक्ति जीवन में उतना ही सफल होगा। जीवन की सफलता और विफलता का रहस्य ही मनोबल का कम या अधिक होना है।

मनोबल एक अर्जित और संचित बल है।

संसार में ऐसा कोई भी स्वस्थ व सामान्य व्यक्ति नहीं है जिसमें कुछ-न-कुछ मनोबल न हो। हर स्वस्थ और सामान्य बालक का जन्म कुछ-न-कुछ मात्रा में मनोबल के साथ ही होता है। उस मनोबल को सुरक्षित रखना, बढ़ाना, घटाना या व्यर्थ ही नष्ट हो जाने देना, व्यक्ति के अपने हाथ में है।

हर व्यक्ति नियमानुसार यथोचित प्रयत्न करे तो वह निश्चित रूप से अपने मनोबल को इतना बढ़ा सकता है कि उसकी योग्यता और अधिकार के अनुसार वह अपनी रुचि के क्षेत्र में सफलता पाकर अपना जीवन सार्थक कर सकता है।

यदि हम प्रबल मनोबल युक्त सफल व्यक्तियों के जीवन तथा कार्यों पर दृष्टि डालें तो हमें उनके जीवन की कुछ विशेषताएँ, उनके व्यक्तित्व के कुछ गुण स्पष्ट दीख पड़ेगे।

प्रथम तो हमें यह दीख पड़ेगा कि उन लोगों ने अपने जीवन के लिए कोई निश्चित कार्यक्षेत्र निर्धारित कर लिया है। ऐसा कार्यक्षेत्र जिसमें उनकी रुचि है तथा जिस ओर उनका स्वाभाविक रुझान है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि उनकी रुचि का क्षेत्र उनकी जीविका का साधन नहीं भी हो सकता है। जीविका के लिए वह व्यक्ति कुछ और ही कार्य करता हो तथा यह सम्भव है कि उसमें उसकी उतनी रुचि न भी हो।

फिर जीविका जीवन की सफलता का मापदण्ड भी नहीं है। जीवन में तृप्ति और सफलता तो उसी कार्य में मिल सकती है जिसमें हमारी स्वाभाविक रुचि हो।

दूसरी बात, हम हर ऐसे व्यक्ति में जिसका मनोबल प्रबल तथा संकल्प दृढ़ है, ये तीन गुण अवश्य पाएँगे।

(१) धैर्य (२) अध्यवसाय और (३) अभ्यास

इन तीन गुणों के आचरण से कोई भी व्यक्ति अपना मनोबल पर्याप्त मात्रा में बढ़ा सकता है। इतना बढ़ा सकता है जिससे कि वह अपने मनोवांछित क्षेत्र में सफल हो सके।

अध्यवसाय और अभ्यास का आधार है धैर्य। ऐसा हम कह सकते हैं कि धैर्य वह नींव है जिस पर अध्यवसाय और अभ्यास का भवन खड़ा होता है।

अत: सर्वप्रथम जीवन में धैर्य का ही अभ्यास करना जरूरी है। अधीरता हमारे जीवन में कुटेवों के कारण आ जाती है। प्राय: लोग जल्दबाजी और चंचलता के शिकार हो जाते हैं, किसी भी कार्य के लिए, किसी भी बात के लिए प्रतीक्षा नहीं करना चाहते। जो हम चाहते हैं वह तुरन्त हो जाए, ऐसा सोचने लगते हैं। किन्तु व्यावहारिक जगत् में यह सम्भव नहीं है कि हम जो चाहें जैसा चाहें वह तुरन्त हो जाए। बहुत-सी बातों में हमें विवश होकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है। किन्तु इसी विवशता को यदि हम शान्त-चित्त से स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लें तो यही धैर्य बन जाता है तथा हमारे चरित्र में स्थिरता लाता है।

धैर्य के पश्चात् मनोबल बढ़ाने के लिए दूसरा जरूरी गुण है अभ्यास। आज जीवन में हम जिन कार्यों को करने में निपुण हैं, दक्ष हैं, वे सभी निरन्तर अभ्यास के ही परिणाम हैं। जाने या अनजाने हमने उन कार्यों का दीर्घकाल तक अभ्यास किया है। इसीलिए आज हम उन्हें सरलता एवं दक्षतापूर्वक कर पा रहे हैं।

अभ्यास के विषय में एक विशेष सावधानी रखने की जरूरत है। अभ्यास के द्वारा अच्छे और बुरे दोनों कार्य किए जा सकते हैं। बुरी आदतें भी अभ्यास के द्वारा ही बनती और दृढ़ होती हैं। अत: प्रारम्भ से ही सावधान रहना चाहिए कि कहीं अनुचित कार्यों या आदतों का पोषण अभ्यास द्वारा न हो जाए।

जीवन को विकसित एवं उन्नत बनाने वाले गुणों का ही अभ्यास करना चाहिए। सद्गुणों का अभ्यास करने से मनोबल बहुत बढ़ता एवं सुदृढ होता है। विवेकपूर्वक सद्गुणों का अभ्यास जीवन के सफलता की कुंजी है। ❑❑❑

जीने की कला (८)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

भगवत्कृपा से रक्षा

कभी कभी अप्रत्याशित रूप से संकट का क्षण आ पहुँचता है और तब प्राय: उसका सामना करने को तैयारी के लिए कोई मौका नहीं रहता। सहसा आये हुए संकट का सामना करने के लिये एक सबल मन और उत्कृष्ट प्रत्युत्पन्न बुद्धि की जरूरत पड़ती है। इन क्षमताओं की प्राप्ति आसान नहीं है। अप्रत्याशित परिस्थितियों का कैसे सामना किया जाय? क्या कोई व्यक्ति पूर्णतया निर्भय हो सकता है? इस प्रसंग में उल्लेखनीय स्वामी विवेकानन्द के भ्रमण के दिनों की एक घटना उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है –

"उन दिनों मैं हिमालय अंचल के विभिन्न घरों में जाकर भिक्षाटन किया करता था। अधिकांश समय मैं ध्यान किया करता था। भिक्षाप्राप्त भोजन अति सामान्य कोटि का रहता और वह मेरी भूख शान्त कर पाने में अपर्याप्त था। एक दिन मैंने सोचा कि मेरा जीवन ही व्यर्थ है। उस पहाड़ी क्षेत्र के लोग स्वयं ही बहुत गरीब थे। वे अपने परिवार तथा बाल-बच्चों का ही भरण-पोषण नहीं कर पाते थे, तो भी अपने भोजन का एक अंश वे लोग मेरे लिए बचाकर रखने का प्रयास करते थे। मुझे लगा कि इस तरह का जीवन जीने योग्य नहीं है। मैंने भिक्षाटन के लिए बाहर जाना छोड़ दिया। दो दिनों तक मैं भूखा रहा। प्यास लगने पर मैं झरने से जल पी लेता था। एक दिन मैं घने वन में जाकर एक वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठ गया। आँखें खोलने पर मैंने अपने सामने एक बड़ा-सा बाघ देखा। उसने अपनी जलती हुई भयंकर आँखों से मेरी ओर देखा। मैंने सोचा कि आखिरकार अब मुझे शान्ति की प्राप्ति हो जायेगी। बाघ को भी शिकार की जरूरत है। उसकी भूख मिटाकर मेरा भी जीवन सार्थक हो जायेगा। मैं आँखें बन्द करके बाघ के अपने ऊपर झपटने की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ मिनट बीत गये। बाघ ने मेरे ऊपर आक्रमण नहीं किया। मैंने आँखें खोली और चारों ओर देखने लगा। बाघ जंगल की ओर वापस चला जा रहा था। मैं चकित रह गया। मैं समझ गया कि ईश्वर मेरी रक्षा कर रहे हैं। मुझे बोध हुआ कि अभी मुझे कुछ कार्य पूरा करना है और उसके पहले मुझे इस संसार से छुटकारा नहीं मिल सकता।"

इस घटना में खतरे का कोई पूर्वाभास नहीं था। ध्यान के बाद जब स्वामीजी ने आँखें खोलीं, तो उन्होंने एक भयंकर नरभक्षी बाघ को खड़े होकर अपनी ओर घूरते हुए देखा। स्वामीजी भयभीत नहीं हुये। वे उस बाघ को अपना शरीर भोजन के रूप में देने को उत्सुक थे। बाघ द्वारा खाये जाने के लिए तैयार होकर वे ध्यान में बैठ गये। उन्होंने किसी दैवी मदद की भी अपेक्षा नहीं की। परन्तु बाघ से उन्हें कोई खतरा नहीं था। वह स्वयं ही लौट गया। कभी कभी जीवन में ऐसी घटनाओं का भी सामना होता है, जिनमें प्राकृतिक नियमों से परे की शक्तियाँ क्रियाशील प्रतीत होती हैं। ईश्वर तथा अलौकिक घटनाओं में विश्वास न करनेवाले युक्तिवादी ऐसी घटनाओं को निरर्थक संयोग मात्र मान सकते हैं, परन्तु अनुभवसिद्ध लोग तथा भक्तगण उनमें ईश्वर की अदृश्य शक्ति का हाथ देखते हैं।

स्वामीजी ने कहा, "मैं समझ गया कि ईश्वर मेरी रक्षा कर रहे हैं।" भक्तों को अनुभव होता है कि भगवान अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। भगवान के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। कभी कभी ऐसा लगता है कि भगवान ने किसी व्यक्ति को विपत्ति में छोड़ दिया है, परन्तु विश्वासी लोग उसमें भी भगवान का आध्यात्मिक उद्देश्य देखते हैं।

ऐसी अनूठी घटनाएँ न केवल सन्तों या महापुरुषों के जीवन में घटती हैं, अपितु सभी युगों के सभी देशों के विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों के साधारण लोगों के जीवन में भी ऐसी घटनाएँ देखने को मिलती हैं।

बर्फानी भालू से सामना

भारत-चीन सीमा-विवाद के दौरान सैन्यबल के एक जवान ने अपने एक बार के अनुभव का वर्णन किया था। एक शाम वह हिमालय-क्षेत्र में अकेले ही भ्रमण करने गया था। लगभग ४ किलोमीटर चलने के बाद उसने विपरीत दिशा से आते हुए एक बर्फानी भालू को देखा। भय के कारण उस युवक के होश उड़ गये। वह जानता था कि बर्फानी भालू अपने रास्ते में आनेवाले किसी भी व्यक्ति के ऊपर आक्रमण करके उसकी जान ले लेता है। साथ में पिस्तौल न लाने का उसे पछतावा होने लगा। उसने सोचा, "अब मेरा अन्त आ पहुँचा है। घर और स्वजनों से दूर, इस बीहड़ में एक भालू के हाथों मरना ही मेरा भाग्य में बदा था।" उसने आगे बताया, "घर के सभी लोगों के चित्र और अपने आराध्य हनुमानजी की मूर्ति मेरी आँखों के सामने भासने लगी। मैं स्थिर होकर भालू की ओर ताकता हुआ खड़ा रहा। मुझसे करीब १० या १५ फीट की दूरी तक आये हुए उस भालू ने सहसा रुककर कुछ क्षणों तक मेरी ओर देखा और फिर चुपचाप लौट गया। प्रत्यक्षत: भालू

के लौटने का कोई स्पष्ट कारण नहीं था। मैं इस विश्वास के साथ वापस आया कि ईश्वर ने ही मेरी रक्षा की है। शिविर के बाकी लोग भी मेरे साथ हुई यह घटना सुनकर आश्चर्य-चकित रह गये।''

''दस दिनों बाद दक्षिण भारत से मुझे अपने पिता का पत्र मिला, जिसमें लिखा था, 'हनुमानजी मेरे स्वप्न में प्रकट होकर बोले, ''मैंने तुम्हारे पुत्र को संकट से बचा लिया है।'' तत्काल पत्र लिखकर मुझे अपनी कुशलता सूचित करो'।'' सन्तों, साधारण लोगों तथा भक्तों के जीवन में होनेवाले अनुभवों से यह सिद्ध है कि सर्वशक्तिमान परमात्मा से सहायता माँगने पर कठिनाइयों और संकटों से छुटकारा पाना सम्भव है।''

श्रद्धा और भक्ति की सहायता से सभी समस्याओं का हल प्राप्त करना सम्भव है। इसके लिए अध्यवसाय, सत्संग तथा अभ्यास की आवश्यकता होती है।

अभ्यास से भय का नाश करो

धैर्य और अध्यवसाय द्वारा हम किसी भी शारीरिक या मानसिक क्रिया को अपनी आदत तथा स्वभाव का एक भाग बना सकते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण दर्शाते हैं कि किस प्रकार अभ्यास तथा अध्यवसाय के द्वारा आदतें बनती जाती हैं।

प्रतिदिन स्नान के द्वारा मनुष्य अपने को स्वच्छ रखने की आदत डालता है।

दान की आदत डालकर मनुष्य उदार होता है।

ध्यान के अभ्यास से मनुष्य प्रबुद्ध हो जाता है।

क्षमा की आदत डालकर मनुष्य दयालु होता है।

हमेशा चिन्ता करते रहने से मनुष्य हताश होता है।

आत्मविश्वास विकसित करके मनुष्य सफलता पाता है।

निरन्तर भयभीत रहने से मनुष्य कायर बन जाता है।

सहानुभूति के अभ्यास से मनुष्य उदार हो जाता है।

योजनाबद्ध रूप से कुछ काल तक किसी व्यवहार को जारी रखने से वह आदत में परिणत हो जाता है। किसी आदत को आसानी से छोड़ा नहीं जा सकता। उसे छोड़ने से लगता है कि हमारी कोई चीज खो गयी है। किसी आदत में बाधा पड़ने से पूरे दिन का कार्य बेकार हो सकता है। अच्छे चरित्र तथा सदाचार के विकास के लिए भली आदतें बुनियाद के समान हैं। मन में बारम्बार आनेवाले विचार और भावनाएँ हमारे स्वभाव तथा चरित्र का निर्माण करती हैं। जैसे चिन्ता, प्रफुल्लता, क्रोध तथा शान्ति मन की आदतजन्य दशाएँ हैं, वैसे ही भय भी मन की एक आदतजन्य दशा हो सकती है। हमारे स्वभाव का अंग बन चुकी यह आदत नियमित तथा व्यवस्थित अभ्यास का परिणाम है। यदि हम अटूट नियमितता के साथ अपने मन में निर्भयता एवं साहसपूर्ण विचारों का पोषण करें, तो क्रमशः हमारा भय लुप्त हो जायेगा और निर्भयता हमारे मन की एक स्थायी अवस्था हो जायेगी।

सोचो एक बच्चा किस प्रकार वर्णमाला लिखने की कला सीखता है। वह प्रत्येक अक्षर के घुमावों का बारम्बार निरीक्षण करते हुए और निरन्तर उसे लिखने का अभ्यास करते हुए प्रत्येक अक्षर को सीख जाता है। किसी आदत को डालने या दूर करने के इच्छुक व्यक्ति को भी बड़े धैर्यपूर्वक अग्रसर होना होगा और धीरे धीरे परन्तु दृढ़तापूर्वक प्रगति करनी होगी। धैर्य को खो देने पर हम किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते।

एक पंक्ति के बिन्दुओं को क्रम से जोड़कर हम वृत्तों, वर्गों, त्रिभुजों, आयतों एवं षड्भुजों के अगणित रूप बना सकते हैं। जब हम छोटी छोटी चीजों को ध्यानपूर्वक तथा व्यवस्थित ढँग से करते हैं, तो हमारे चरित्र को एक आकार मिल जाता है।

कठिन परिस्थितियों का खरल

कठिनाइयाँ, दुःख-कष्ट तथा असहायता की दशा मनुष्य को जिस चिन्ता एवं विषाद के ताप में पकाती हैं, उसका वर्णन मानवीय भाषा में नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में हम कुछ वास्तविक घटनाओं का वर्णन करते हैं –

अपने जीवन के दुःख-दर्द को सह पाने में अक्षम तथा अति विचलित एक महिला ने कहा, ''बचपन में ही माँ की मृत्यु हो जाने से मैं अनाथ हो गयी। मैं अपने भाई तथा भाभी के उदासीन व्यवहार के अधीन पली और बड़ी हुई। दुर्भाग्यवश मेरा विवाह एक निर्दयी व्यक्ति से हो गया, जो शराबी तथा दुश्चरित्र था। अब मैं दो बच्चों की माँ हूँ। बड़ा नौ और छोटा चार साल का है। मेरी दुख-पीड़ा का कोई अन्त नहीं। एक ओर मैं पति के संरक्षण से वंचित हूँ, तो दूसरी ओर अपने सभी सगे-सम्बन्धियों से भी दूर हूँ। कोई भी ऐसा नहीं है, जिससे मैं या मेरे बच्चे अपने दिल की बातें कह सकें। हमने इस मधुर आशा में अनेकों वर्ष बिता दिये कि ईश्वर हमारा साथ नहीं छोड़ेंगे, पर वह आशा भी अब धीरे धीरे जा चुकी है। मेरे पति अक्सर कहते हैं, ''भगवान से अपना पिण्ड छुड़ा लो। तुम्हारे रोने-धोने पर कोई ध्यान नहीं देगा।'' वे पहले इतने क्रूर नहीं थे। पर अब तो उन्होंने मानो मुझे नरक में ही ढकेल दिया है। वे मुझे दैहिक और मानसिक रूप से मर्मभेदी पीड़ा देते हैं। इधर उनकी लम्पटता बढ़ गयी है। मेरी सारी आशाएँ भग्न हो चुकी हैं। अब और जीने की मेरी इच्छा नहीं है। यहाँ तक कि बच्चों की चिन्ता भी मुझे आत्महत्या के विचार से रोक नहीं पाती। केवल कभी कभी बच्चों की चिन्ता मुझे रोकती है। क्या इस अभागिनी नारी के लिए कोई उपाय है?''

एक महात्मा ने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा – ''निराश मत होओ। ऐसी बात नहीं कि ईश्वर तुम्हारे दुःख-कष्टों से

अनजान हैं। उनके प्रति विश्वास मत खोना। अब तक शायद तुम समझ गयी होगी कि संसार दुःखमय है। यह ऐसे लोगों से भरा है, जो ऊपर से तो ईमानदार तथा उदार हैं, परन्तु दिल से घोर स्वार्थी हैं। और यह कभी मत सोचो कि ईश्वर तुम्हारी प्रार्थना नहीं सुनते। तुम उनसे दिन में दो बार प्रार्थना करती हो, उसमें और भी उत्साह तथा भाव के साथ अश्रुपूर्ण प्रार्थना करती रहो। तुम तत्काल भले इसके फल का अनुभव न करो, परन्तु आगे चलकर इसका फल अवश्यम्भावी है। हर कोई तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। वस्तुतः केवल भगवान ही मनुष्यों को इस जीवन के दलदल से निकाल सकते हैं। अतीत को भुला दो। क्या तुम दो दिन पूर्व किये गये भोजन के स्मरण का प्रयास करती हो? अतीत की घटनाएँ तुम्हें अब भी क्यों परेशान करती हैं? बीता हुआ काल फिर वापस नहीं आता। अब आगे से सचेत रहो और सावधानीपूर्वक अगला कदम बढ़ाओ। अपने बच्चों को प्रार्थना और उसके महत्त्व के बारे में बताओ। यह बात तुम्हें अन्य किसी को बताने की जरूरत नहीं। अपने पति के मंगल हेतु भी निष्ठापूर्वक प्रार्थना करो। इससे तुम्हारा परम कल्याण होगा। इससे तुम्हारे सौभाग्य का उदय होगा। निष्ठापूर्वक महीने भर अपनी साधना करो। ब्राह्म मुहूर्त में उठकर प्रभु से प्रार्थना करो। दिन भर का कार्य समाप्त करने के बाद पूजाघर में जाकर प्रभु को प्रणाम करके कातर प्रार्थना करो। यदि तुम दुःख से अभिभूत हो, तो अपने मनमाने ढंग से उनसे प्रार्थना करो। धीरज रखो। जल्दबाजी में उनके बारे में कोई धारणा मत बना लो। जीवन बहुमूल्य है। इस मूल्यवान जीवन को पाकर इसके लक्ष्य को मत भूलो।''

''कोई कठिनाई भी अकारण नहीं आती। ईश्वर कोई मजा लेने हेतु लोगों को परेशानी के कारागार में नहीं डालते। वे अनासक्त हैं और साक्षी के रूप में सब कुछ देखते रहते हैं। जो सच्चे हृदय से सहायता के लिए आकुल होता है, उसे सही समय पर निश्चय ही मदद मिलेगी। ईश्वर में पूरा विश्वास रखना होगा। कर्म या भाग्य के प्रभाव को नष्ट करने हेतु ईश्वर से अनुनय-विनय करना होगा। मानव-जीवन मेघाच्छन्न आकाश के समान है, जिसमें चारों ओर धुएँ तथा कुहरे के घने बादल मँडराते रहते हैं। इस संसार में कोई भी सच्चा सुख नहीं पा सकता। ऐसी सलाह देने पर लोग विश्वास नहीं करते। पर उन्हें स्वयं के अनुभवों से जीवन के बारे में सीखना है। जागतिक जीवन की तुच्छता के बारे में दृढ़ विश्वास हो जाने के बाद हम इसके प्रलोभन से मुक्त हो सकते हैं।''

''जीवन की कठिनाइयों की गाँठ को खोलना आसान नहीं है। केवल प्रार्थना और भगवन्नाम के जप से ही क्रमशः यह गाँठ पिघल सकती है। आध्यात्मिक जीवन में सफलता का यही सच्चा रहस्य है। यह समयसाध्य है। तुमने पहले ही धैर्य के साथ कष्ट सहते हुए इतना लम्बा काल बिता दिया है। अब शान्ति पाने के आध्यात्मिक समाधान को आजमा कर देखो। भोजन करने के घण्टों बाद तक उसके स्वाद की डकार आते रहने के समान सम्भव है कि कुछ समय तक तुम्हें दुःखद अतीत की स्मृतियाँ परेशान करती रहें। पर इससे निराश मत होना। आनेवाले दिन अच्छे होंगे।''

एक अन्य घटना

एक ३५ वर्ष की महिला थी। रात में सबके सो जाने पर तूफान आया और उसके घर के सामने का पेड़ उखड़ गया। पति, पत्नी तथा बच्चे निद्रामग्न थे। सब लोग बाल बाल बच गये, परन्तु ३५ वर्ष से कुछ अधिक आयुवाली पाँच बच्चों की वह माँ, पाँव पर पेड़ की एक डाल गिर जाने से घायल हो गयी। उसके कमर के नीचे के पैरोंवाले हिस्से में लकवा मार गया। सारी चिकित्सा व्यर्थ सिद्ध हुई। यह महिला उठ पाने में भी असमर्थ हो गयी। अब वह पूरी तौर से पराधीन थी। उसी के शब्दों में, ''गरदन के नीचे की पीड़ा असह्य है। मेरे दुर्भाग्य का कोई अन्त नहीं। हाल ही में बुखार आ जाने से मेरी हालत और भी बदतर हो गयी। मैं पूर्णतया टूट चुकी हूँ। गरीबी की आग भी हमें झुलसा रही है। मेरी एकमात्र प्रार्थना है कि मुझे मरने दिया जाय। जीने की अब मेरी कोई इच्छा नहीं है।''

''मेरी बड़ी बहन ने पूजा-अनुष्ठान तथा तीर्थयात्रा की। एक अन्य बहन ने बड़ों की सेवा करके पुण्य कमाया। परन्तु तीर्थयात्रा की बात तो जाने ही दीजिये, मुझे अपने पिता की सेवा तक का मौका नहीं मिल सका। पैरों की पूरी शक्ति चले जाने से मैं अपने पति की भी कोई सेवा नहीं कर सकती। इन कठिनाइयों के बीच अब मुझे जिन्दा ही क्यों रहना चाहिए?''

उसने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि जीवन इतना अधिक कठोर हो सकता था। उसके दुःख-कष्टों के प्रत्यक्षदर्शी उसके रिश्तेदारों ने कहा, ''पिछले छह वर्षों से वह इस जगह से हिली तक नहीं है। वह करवट भी नहीं बदल सकती। वह जहाँ-जैसे पड़ी है, उसे वैसे ही पड़े रहना पड़ता है। उसके पीठ में बड़े बड़े घाव हो गये हैं। पूरे शरीर में पीड़ा होती है। उसके पति की आर्थिक दशा और भी बिगड़ गयी है। हम लोग उसकी कुछ मदद कर रहे हैं, पर वह पर्याप्त नहीं है। उसकी हालत इतनी खराब है कि वे लोग बच्चों को पुरस्कार के रूप में स्कूल से मिली छोटी-मोटी चीजें भी बेचने को बाध्य हैं। यह तो एक चमत्कार-सा ही है कि इस भयानक कठिनाइयों में भी उसका पति यहाँ से भागने का कोई प्रयास न करके, दिन-रात कठोर मेहनत करके बड़ी मुश्किल से आजीविका चला रहा है। अब तक काफी हानि हो चुकी है। हम लोग यथाशक्ति उनकी सहायता कर रहे हैं, ताकि हालत और बदतर न हो जाय। पर उनकी आवश्यकताओं की तुलना में हमारी सहायता कुछ भी नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि मानवीय सहायता की सदा अपनी सीमा होती है।''

ऐसी त्रासदियों से हम स्वयं को कैसे बचा सकते हैं? एक उन्नत साधक का कहना है – "जीवन-चक्र की गति के दौरान एक-दूसरे के पीछे सुख-दुख आते रहते हैं। यदि लगातार कठिनाइयाँ आयें, तो भी हिम्मत मत हारो। भक्ति तथा निष्ठा के साथ भगवन्नाम का जप करो। बीती बातों को याद करके खेद मत करो। मत भूलो कि प्रभु अपने शरण में आये हुए लोगों का परित्याग नहीं करते। चिन्तित मत होओ, धैर्य रखो; वे सबकी रक्षा करेंगे, भय की कोई बात नहीं।" यह आश्वासन पूर्णत: सत्य है। हम भयभीत क्यों हों? हमारे समस्त दु:खों तथा चिन्ताओं का कोई-न-कोई कारण है। और इसी प्रकार हमारे भले कर्म भी अच्छे फल अवश्य लायेंगे। एक अटल नियम के अनुसार प्रत्येक कर्म का फल अवश्यम्भावी है। हमें सोचना चाहिए कि ईश्वर की इच्छा से ही हमारे जीवन में सारे दु:ख़ आते हैं, ताकि हम उनकी ओर अग्रसर हो सकें। हमें साहस तथा दृढ़ संकल्प के साथ जीवन में आगे बढ़ना होगा। जैसे सोने को तपाकर उसे विशुद्ध बनाया जाता है, वैसे ही कठिनाइयों से गुजरकर जीवन को बहुमूल्यता प्राप्त होती है। "भय की कोई बात नहीं। सभी दु:ख-कष्टों का एक ही स्थायी समाधान है और वह यह कि हम ईश्वर के चरणों में आत्मसमर्पण कर दें। दुख-दर्द से चीख रहे बच्चे के क्रन्दन से हर माँ द्रवित हो जाती है। माँ स्वभाव से ही दयालु होती है। ईश्वर भी माँ के समान हैं। हमें उनके नाम का जप करते रहना चाहिये। वे सब कुछ जानते हैं। निरन्तर प्रार्थना ही चिन्ता से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है। भगवान हर भक्त की जरूरतों को जानते हैं। भावपूर्ण प्रार्थना, पवित्र विचार, स्वाध्याय तथा कर्म – ये ही मानव-हित को सुनिश्चित करने के साधन हैं।"

यह आश्वासन एक अनुभूतिसम्पन्न महापुरुष ने दिया था। उन्होंने सैकड़ों युवकों में आशा और उत्साह का संचार किया था। वे लोगों की बाह्य रूप से असाध्य लगने वाली कठिनाइयों तथा दुख-कष्टों को देखकर बड़ी सहानुभूतिपूर्वक ईश्वर से कातर प्रार्थना करते थे। अपने निजी अनुभव के आधार पर उनका दृढ़ विश्वास था कि प्रार्थना से कायाकल्प हो सकता है। काफी सोच-विचार के बाद ही वे कुछ बोलते थे। उनके स्वभाव में स्वार्थ या अहं का लेश तक न था।

नास्तिक, तथाकथित युक्तिवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणवाले लोगों को शायद ऐसे विचार अच्छे न लगें। पर जीवन की कठिनाइयों से पीड़ित लोगों के लिए उनके पास दिलासा का कोई शब्द नहीं होता। केवल सामाजिक-आर्थिक या राजनैतिक सुधार से इस मानवीय पीड़ा का निवारण नहीं हो सकता।

❖ (क्रमश:) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (२८)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अतः ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

गधा और घोड़ा

मार्ग में एक वृक्ष के नीचे एक घोड़े को भोजन करते देख एक गधे ने उससे अनुरोध किया कि वह अपने भोजन से थोड़ा-सा हिस्सा उसे भी खाने को दे। घोड़े ने कहा, "ठीक है, यदि मेरे खाने से कुछ बच गया, तो अपनी उदारता के कारण मैं उसे दे दूँगा और यदि तुम शाम को मेरे अस्तबल में आओ, तो मैं तुम्हें जौ से भरी हुई एक थैली प्रदान करूँगा। गधे ने कहा, "धन्यवाद। परन्तु मुझे नहीं लगता कि जो इस समय मुझे छोटी-सी चीज के लिए इन्कार कर रहा है, वह बाद में मुझे कोई बड़ी चीज प्रदान करेगा।

अहंकार दिखाने हेतु लोग बड़े लम्बे-चौड़े वादे करते हैं।

पथिक और सत्य

एक रेगिस्तानी क्षेत्र से होकर गुजरते हुए एक यात्री की एक महिला से भेंट हुई, जो बड़े निराशापूर्ण भाव के साथ एकाकी खड़ी थी। पथिक ने पूछा, "तुम कौन हो?" उत्तर मिला, "मैं सत्य की देवी हूँ।" उसने फिर पूछा, "और किस कारण से तुम नगर छोड़कर इस बियावान स्थान में एकाकी भटक रही हो?" उसने उत्तर दिया, "इसलिए कि पहले कुछ लोगों में झूठ-कपटता दिखाई देती थी, परन्तु अब यह सभी लोगों की सहचरी बन चुकी है।

सत्य के प्रति उदासीनता ही समाज के पतन का हेतु है।

हत्यारा मनुष्य

एक व्यक्ति ने एक अन्य व्यक्ति की हत्या कर दी। मृतक के परिवारवालों ने उसका पीछा किया। नील नदी के तट पर पहुँचकर उसने उसके किनारे एक सिंह को बैठा देखा और उससे डरकर वह एक वृक्ष पर चढ़ गया। उसने वृक्ष की ऊपरी शाखाओं पर एक साँप देखा और उससे भयभीत होकर वह नदी में कूद पड़ा। वहाँ वह नदी में रहनेवाले एक मगरमच्छ के जबड़े में जा पड़ा और इस प्रकार उसकी इहलीला समाप्त हो गयी। इस प्रकार पृथ्वी, वायु तथा जल – किसी ने भी उस हत्यारे को शरण नहीं दी।

अपराध करनेवाले को कहीं भी शान्ति नहीं मिलती।

सिंह और सियार

एक सियार ने सिंह की अधीनता स्वीकार करके उसके साथ समझौता कर लिया। दोनों ही अपने स्वभाव तथा शक्ति के अनुसार शिकार में एक-दूसरे के साथ सहयोग करते थे। सियार जंगल में घूम-घूमकर शिकार खोजता और सिंह उस सूचना के आधार पर उसे पकड़कर ले आता। शिकार के प्रमुख भाग पर सिंह का अधिकार होता और बचे-खुचे हिस्से पर सियार का। धीरे धीरे सियार के मन में ईर्ष्या का उदय हुआ। वह इस समझौते को तोड़ते हुए बोला कि अब से वह खुद ही अपने लिए शिकार किया करेगा। अगले दिन उसने एक रेवड़ से एक मेमना उठाने का प्रयास किया, परन्तु उसे स्वयं ही शिकारियों तथा उनके कुत्तों के हाथों पड़कर अपने प्राण गँवाने पड़े।

हर कोई हर तरह का कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता।

गरुड़ और सिंह

एक गरुड़ पक्षी बड़ी ऊँचाई पर उड़ रहा था। जंगल में एक सिंह को देख वह नीचे उतर आया और उसके साथ आपस में मिलकर शिकार करने का प्रस्ताव रखा। सिंह ने कहा, "मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु पहले तो तुम्हें अपने विश्वास की गारंटी लानी पड़ेगी, क्योंकि मैं एक ऐसे मित्र का भला कैसे विश्वास करूँगा जो जब इच्छा हुई समझौते को तोड़कर उड़ जा सकता है?

दूसरों पर विश्वास जमाने में समय लगता है।

मुर्गी और साँप के अण्डे

एक मुर्गी को कहीं जहरीले नाग के अण्डे मिल गये। उसे उन पर वात्सल्य उमड़ आया और वह अपनी आदत के अनुसार उन पर बैठकर सेने लगी। एक अबाबील पक्षी ने उसे ऐसा करते देखकर कहा, "ओ मूर्ख मुर्गी, क्यों तुमने इन जहरीले सर्पों को सेकर पैदा किया! क्योंकि बड़े होकर ये सबके लिए खतरनाक साबित होंगे और इनकी पहली शिकार तुम्हीं बनोगी।

दुष्टों को पालना अपने जीवन पर भी संकट ला सकता है।

शिकारी और घुड़सवार

एक शिकारी ने बड़े परिश्रम से जाल बिछाकर एक खरगोश पकड़ा। उसे बाँधकर अपने कन्धे पर डाले वह घर की ओर लौट रहा था। रास्ते में उसकी एक घुड़सवार से भेंट हो गयी। उसने उस खरगोश को खरीदने में रुचि दिखाई और उसे ठीक से देखने के लिए शिकारी से माँगा। परन्तु एक बार खरगोश हाथ में आते ही उसने अपने घोड़े को एँड़ लगायी और बिना पैसे दिये ही भाग निकला। शिकारी भी उसे पकड़ लेने की

आशा में यथाशक्ति उसके पीछे दौड़ने लगा। परन्तु शिकारी को आते देख घुड़सवार ने अपनी गति बढ़ा दी। दोनों के बीच की दूरी बढ़ने लगी। आखिरकार शिकारी ने निराश होकर घुड़सवार को सम्बोधित करते हुए कहा, "ठीक है भाई, जाओ यह खरगोश मैं तुम्हें उपहार के रूप में देता हूँ।

मजबूरी का नाम सब्र है।

विदूषक और देहाती आदमी

एक धनी जमींदार ने एक नाट्यशाला का निर्माण कराया, जिसमें लोगों के लिए प्रवेश नि:शुल्क था। उसने नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो कोई व्यक्ति उद्घाटन के दिन किसी नये मनोरंजक खेल का प्रदर्शन करेगा, उसे भलीभाँति पुरस्कृत किया जायेगा। इनाम की बात सुनकर बहुत-से कलाकारों के मुख में पानी आ गया। उन्हीं लोगों में एक विदूषक भी था, जो लोगों को हँसा-हँसाकर मनोरंजन करने के लिए उस क्षेत्र में काफी प्रसिद्ध था। उसने आकर बताया कि उसके पास एक ऐसा खेल है, जिसे कभी किसी भी रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया गया है। इस बात का प्रचार होने पर लोगों में काफी हलचल मच गयी। उद्घाटन के दिन थियेटर में तिल रखने को भी जगह न थी। विदूषक अकेला और बिना कोई साज-सामान लिए रंगमंच पर उपस्थित हुआ। कुछ नया देखने की अपेक्षा में दर्शकगण मानो साँस रोके प्रतीक्षा कर रहे थे। सहसा उसने अपना सिर सीने की ओर मोड़ा और अपने गले से सूअर के बच्चे के जैसी इतनी सुन्दर आवाज निकाली कि श्रोताओं ने कहा कि उसने अपने लबादे के अन्दर निश्चित रूप से एक सूअर का बच्चा छिपा रखा है। उन लोगों की माँग पर जब विदूषक की जाँच की गयी, तो कुछ भी नहीं मिला। इस पर तालियों की गड़गड़ाहट के साथ जोर के स्वर में दर्शकों ने विदूषक का अभिनन्दन किया।

गाँव से आया हुआ एक व्यक्ति भी दर्शकों में उपस्थित था। सारा खेल देखने के बाद उसने सोचा कि क्यों न मैं भी अपना खेल दिखाऊँ। उसने तत्काल मंच पर जाकर घोषणा की कि अगले दिन वह भी यही खेल और भी सुन्दर तथा स्वाभाविक ढंग से दिखायेगा। निर्धारित हुआ कि अगले दिन दोनों के प्रदर्शन की तुलना करने के बाद ही पुरस्कार का निर्णय किया जायेगा। अगले दिन तो नाट्यशाला में आनेवाली भीड़ में और भी इजाफा हुआ। परन्तु इस बार की भीड़ उस देहाती कलाकार को देखने नहीं, बल्कि उसकी हँसी उड़ाकर अपने विदूषक अभिनेता को श्रेष्ठ साबित करने के लिए आयी थी। दोनों ही कलाकार एक साथ मंच पर उपस्थित हुए।

पहले विदूषक ने सूअर के बच्चे की आवाज निकाली और पिछले दिन की ही भाँति दर्शकों का दिल जीत लिया। इसके बाद उस देहाती ने अपना प्रदर्शन आरम्भ किया। उसने ऐसा अभिनय किया मानो उसने अपने लबादे में एक सूअर का बच्चा छिपा रखा हो। उसकी भाव-भंगिमा से ऐसा लगा मानो उसने सूअर के बच्चे को पकड़कर उसके कान उमेठे हों और इसके फलस्वरूप वह चीख रहा हो। इस पर भीड़ एकमत होकर चिल्लाने लगी कि विदूषक का अभिनय ज्यादा स्वाभाविक था और माँग करने लगे कि इस देहाती को धक्के मारकर रंगमंच से हटा दिया जाय। इस पर उस देहाती ने उन लोगों की महान् भूल को प्रमाणित करते हुए अपने लबादे से एक छोटा-सा सूअर का बच्चा निकाला और सबको दिखाते हुए कहने लगा, "इसी से पता चल जाता है कि आप लोग किस प्रकार के निर्णायक हैं।"

असली चीजों को छोड़कर लोग नकली चीजों को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

कौआ और साँप

एक जाड़े की सुबह भूख से त्रस्त एक कौए ने एक किनारे एक साँप को लेटे हुए देखा। उसने लोभपूर्वक झपट्टा मारकर उस साँप को उठा लिया। साँप जहरीला था और उसने मुड़कर कौए को डँस लिया। कौआ अपनी अन्तिम साँसें गिनते हुए बोला, "हाय, मेरा कैसा दुर्भाग्य है! जिसे मैंने अपने लिए सुखद वस्तु समझा था, वही मेरा काल निकला।"

सुख में ही दुख के भी बीज छिपे रहते हैं।

राजकुमार और चित्रित सिंह

एक राजकुमार शिकार खेलने का बड़ा शौकीन था। एक दिन राजा ने स्वप्न में देखा कि उसके इकलौते पुत्र को एक सिंह ने मार डाला है। स्वप्न कहीं सच न हो जाय, इस भय से उसने अपने पुत्र के लिए एक भव्य महल बनवाया और उसके मनोरंजन हेतु उसकी दीवारों पर सभी प्रकार के जानवरों के सजीव-से चित्रों का अंकन करा दिया। उनमें एक सिंह का चित्र भी था। उस चित्र को देखकर राजकुमार का दबा हुआ खेद उभड़ उठा और वह चित्र के सामने जाकर बोला, "रे दुष्ट पशु, अपने पिता द्वारा निद्रावस्था में देखे हुए एक झूठे स्वप्न के कारण मैं एक बालिका के समान इस महल में बन्द हूँ। इसका कारण तू ही है। बोल मैं तुझे क्या सजा दूँ?" इतना कहकर उसने सिंह को मारने के लिए एक कँटीले वृक्ष की डाली काटकर उसकी छड़ी बनाने की इच्छा से उस ओर हाथ बढ़ाया। परन्तु उस वृक्ष का एक काँटा उसकी उँगली में गड़ गया, जिससे वह सूज गया और भयंकर पीड़ा होने लगी। इसके बाद वह अचेत होकर गिर पड़ा, उसे जोरों का बुखार चढ़ आया और कुछ दिनों के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गयी।

कठिनाइयों से बचने का प्रयास करने के स्थान पर हमें साहसपूर्वक उनका सामना करना चाहिए। ❖ (क्रमश:) ❖

बाबा रघुनाथदास की अद्भुत गाथा

स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्यों में सम्भवत: मास्टर महाशय (श्री महेन्द्रनाथ गुप्त 'म') ही सर्वप्रथम अयोध्या गये थे। गुरुदेव के तिरोभाव के कुछ माह बाद (१८८७ के पूर्वार्ध में) संसार के किसी भी कार्य में उनका मन नहीं लग रहा था, अत: अपने मन का खेद मिटाने शैक्षणिक कार्य से अवकाश लेकर वे वृन्दावन, अयोध्या, काशी आदि की तीर्थयात्रा पर गये। अयोध्या पहुँचकर मन्दिरों में पूजा आदि देने के पश्चात् वे साधु-महात्माओं का दर्शन करने गये। उन दिनों अयोध्या में सन्त रघुनाथदास का भी निवास था, जिन्हें परमहंस अवस्था प्राप्त हो चुकी थी। मास्टर महाशय ने छावनी में स्थित उनके आश्रम में जाकर देखा कि वे अनेक साधुओं से घिरे बैठे थे, बालकवत् स्वभाव था, बड़े हँसमुख थे। रघुनाथदासजी पहले से ही श्रीरामकृष्ण के तिरोभाव के समाचार से अवगत थे। उन्होंने मास्टर महाशय के प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाई और बहुत-सी बातें की। बाबाजी ने उन्हें दिलासा देते हुये कहा था – "बेटा, कहाँ घूमोगे ! गुरुस्थान पर लौट जाओ। उन्हीं के नाम-धाम और रूप का चिन्तन करो।"[१]

लगता है स्वामी विवेकानन्द को मास्टर महाशय से ही इन महात्मा के बारे में सूचना मिली थी। १८८८ ई. में जुलाई या अगस्त में जब वे अपनी परिव्रज्या के आरम्भ में काशी होते हुये अयोध्या पहुँचे, तो इन परमहंस महापुरुष का दर्शन करने भी गये, परन्तु पता चला कि दो माह पूर्व ही उनका देहत्याग हो चुका है। यद्यपि स्वामी विवेकानन्द जी अपने प्रव्रजन के दिनों में अयोध्या जाकर भी उनसे मिल नहीं सके थे, तथापि वहाँ बाबाजी के विषय में उन्होंने जो कुछ सुना, उसे स्मरण रखा और भगिनी निवेदिता के समक्ष उनका वर्णन किया था, जिन्हें निम्नलिखित शब्दों में लिपिबद्ध किया गया है –

"स्वामीजी जब रघुनाथदास के आश्रम में पहुँचे, तो उसके दो माह पूर्व ही उक्त महापुरुष का देहत्याग हो गया था। पहले वे ब्रिटिश सेना में काम करते थे और शिविर-रक्षक के कार्य में अच्छे और विश्वासी कर्मचारी के रूप में अधिकारियों के विशेष स्नेहभाजन थे। इसी प्रकार दिन बीत रहे थे। एक रात उन्होंने देखा कि एक टोली रामनाम-संकीर्तन करते हुए चली जा रही है। उसे सुनकर अपने कर्तव्यपालन का यथासाध्य प्रयास करने पर भी 'बोलो, राजा रामचन्द्र की जय' – यह ध्वनि सुनते ही वे उन्मत्तप्राय हो उठे। अपने अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिकों का वेश फेंककर वे संकीर्तन में सम्मिलित हो गये।

"कुछ काल ऐसे ही बीतने के बाद आखिरकार कर्नल साहब के पास उनके नाम पर शिकायत हुई, कर्नल साहब ने रघुनाथदास को बुलवाया और पूछा कि क्या यह सारी खबर सत्य है और क्या इसकी सजा उन्हें ज्ञात है? रघुनाथदास ने उत्तर दिया – 'ज्ञात है, मुझे गोली मार दी जायेगी।' कर्नल ने कहा – 'देखो, इस बार तो तुम्हें क्षमा कर देता हूँ। जाओ, यह बात मैं किसी से कहूँगा नहीं, परन्तु यदि फिर ऐसा हो, तो तुम्हारी सजा अनिवार्य है।'

"उस रात फिर – रामनाम-संकीर्तन का दल कीर्तन करता हुआ चला जा रहा था। रघुनाथदास के कानों में उसकी ध्वनि आई और उन्होंने स्वयं को रोकने का यथासाध्य प्रयास किया, किन्तु वह आकर्षण अदम्य था। आखिरकार सब कुछ छोड़कर उन्होंने सारी रात संकीर्तन दल के साथ बिताई।

"इधर रघुनाथदास के ऊपर कर्नल की इतनी आस्था थी कि उन्हें अपने ही मुख से अपराध स्वीकार करते सुनकर भी, उनके विरुद्ध कुछ विश्वास कर पाना उनके लिये कठिन था। अत: वस्तुस्थिति को अपनी आँखों से देखने के लिये वे रात के समय स्वयं ही शिविर में उपस्थित हुये। उन्होंने देखा कि रघुनाथ अपने स्थान पर खड़े हैं और उनके साथ उन्होंने यथारीति तीन बार संकेतों का आदान-प्रदान किया। कर्नल निश्चिन्त होकर अपने आवास पर लौटे और सो गये।

"प्रात:काल रघुनाथदास अपना अपराध स्वीकार करने, तथा अस्त्र-शस्त्र समर्पित करते हुये सजा ग्रहण करने के निमित्त कर्नल के पास उपस्थित हुये। परन्तु कर्नल ने उनकी बातें बिल्कुल नहीं सुनी। वे स्वयं ही जो देख और सुन आये थे, उसी का वर्णन करने लगे।

"विस्मय से हतबुद्धि रघुनाथदास कार्य से किसी प्रकार भी निवृत्ति पाने का हठ करने लगे। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जिन प्रभु श्रीरामचन्द्र ने अपने सेवक के लिये ऐसा किया हो, अब से वे उन्हें छोड़ अन्य किसी का दासत्व नहीं करेंगे।

"स्वामीजी बोले, 'वे सरस्वती (सरयू) नदी के तट पर वैरागी साधु का जीवन बिताने लगे। लोग उन्हें अज्ञानी समझते, पर मैं उनकी क्षमता से परिचित था। वे प्रतिदिन हजारों लोगों को खिलाते। किसी दिन गेहूँवाला आकर अपने पैसे माँगता, रघुनाथदास कहते, 'हूँ, ... कितने हजार रुपये? ठहरो तो देखूँ। कहाँ, महीने भर से तो कुछ रुपये-पैसे आये नहीं। लगता है रुपये कल आ जायेंगे।' रुपये ठीक उसी दिन आ जाते – उससे जरा भी अलग कुछ नहीं होता।"

"किसी ने रघुनाथदास से पूछा – 'रामनाम-संकीर्तन-दल वाली कहानी सच्ची है या नहीं।' उन्होंने उत्तर में कहा, 'यह

१. श्री 'म' दर्शन, भाग ७, पृ. १८८-९२, भाग ११, पृ. ९९, १०४

सब बातें जानकर क्या लाभ?' प्रश्नकर्ता ने कहा, 'मैं केवल उत्सुकतावश नहीं पूछ रहा हूँ। मैं इतना ही जानना चाहता हूँ कि ऐसी घटना सम्भव है क्या?' रघुनाथदास ने उत्तर दिया, 'भगवान की इच्छा से सब सम्भव है'।''[२]

* * *

इस प्रकार रघुनाथदासजी की गाथा सुनाकर स्वामीजी उनका नाम भविष्य के लिये अमर कर गये। बाबाजो के जीवन के विषय में जानकारियों का नितान्त अभाव है, तथापि उनके बारे में जो भी बातें संग्रहीत हो सकी हैं, वे मुख्यत: निम्नलिखित पुस्तिका में ही प्राप्त हुई हैं – **पुस्तक** – श्री रघुनाथदास **लेखक** – पं. रामनारायण पाण्डेय, पैंतेपुर, जिला - सीतापुर **प्रकाशक** – स्वामी रामदास जी 'परमहंस', बड़ी छावनी, श्री अयोध्या जी, **द्वितीय संस्करण** – सन् १९५७, (सं. २०१४)

इस पुस्तक में स्वामीजी के विवरण से कहीं कहीं भेद दीख पड़ता है, तथापि अनेक नई जानकारियाँ भी प्राप्त होती हैं।

जब जनहित रघुनाथ स्वांग सैनिक कर कीन्हो।
तब तजि बृटिश कुभृत्ति रामचरणनि चित्त दीन्हों।।
बहु जन भव ते ऐंचि किये हरि शरनहिं लाई।
अमित जनन्हि त्रयताप मिटायेहु दर्श दिखाई।।
परमसिद्ध की शुभ कथा कहे न पावत पार है।
रघुनाथदास के श्रीचरण सविनय नमत 'कुमार' है।।

– पं रामकुमारदास जी रामायणी

वंश – लखनऊ से करीब ५० किलोमीटर उत्तर में स्थित पैंतेपुर ग्राम में वैशाख शुक्ल पक्ष की तृतीया संवत् १८३४, गुरुवार को मध्यान्ह में जन्म हुआ। पिता का नाम श्री दुर्गाप्रसाद था। देहावसान पौष शुक्ल दशमी (१८८८ ई.)। बचपन से ही वे बड़े दयालु थे। यदि कोई भूखा या दीन-दुखी उनकी निगाह में आ गया तो घर ले जाकर वे अपनी माँ को कहकर उसे भोजन आदि करा देते थे। उन्हें कसरत करने तथा कुश्ती लड़ने का अभ्यास था। उसके दाँव-पेंच जानते थे और अस्त्र-शस्त्रों में भी प्रवीण थे। लखनऊ के पास स्थित सैनिकपुरी में उनका विवाह हुआ था।

साधना हेतु गंगा की ओर – एक दिन उनके मन में आया कि गंगा के तट पर रहते हुये साधन-भजन करूँगा। उनके ग्राम के दक्षिण ओर गंगाजी पड़ती थीं। वे बिना किसी को कुछ बताये उसी ओर निकल पड़े। रास्ते में मित्रों से भेंट हुयी। उनके पूछने पर उन्होंने स्पष्ट रूप से सारी बात कह दी। उनसे सूचना पाकर घर के लोगों ने आकर उन्हें घेर लिया। उन्होंने कहा कि अन्य लोगों के समान वे भी गंगा-स्नान करने को जा रहे हैं। घर के लोग इस शर्त पर राजी हुए कि साथ में उनके भतीजे मथुरा प्रसाद भी जायेंगे। वे तत्काल चल पड़े। गुरुम्बा गाँव के पास संध्या हो गयी। उन दोनों ने वहीं भोजन किया। भतीजे मथुरा प्रसाद के सो जाने पर भी आप जागकर भजन करते रहे।

हनुमानजी का दर्शन – कहते हैं कि आधी रात के समय उन्हें थोड़ी झपकी लग गयी। शायद तभी स्वप्न में हनुमान जी प्रगट होकर उनसे बोले, ''रघुनाथ! तुम लखनऊ जाओ। वहाँ रॉबर्ट साहब वाजीद अली शाह की सेना के सेनापति हैं। जाकर उनकी पलटन में भर्ती हो जाओ। उनकी सेना में रोज रामायण होता है, वहाँ तुम्हें आनन्द मिलेगा।

सेना-प्रवेश – प्रात:काल शौचादि से निवृत होने के बाद वे सीधे लखनऊ की ओर चल दिये। पता लगाते हुए वे रॉबर्ट साहब की पलटन में जा पहुँचे। उस पलटन के अधिकांश सैनिक भक्तिरसिक थे। उन्हें देखते ही एक सैनिक उन्हें सेनापति रॉबर्ट साहब के पास ले गया। रॉबर्ट साहब ने उनका नाम-धाम पूछने के बाद उन्हें सेना मे भर्ती कर लिया। भतीजे मथुरादास को एक अच्छे सिपाही के साथ घर वापस भेज दिया गया। थोड़े दिनों बाद वे कवायद परेड में अव्वल आये, जिससे उनका ओहदा, वेतन आदि बढ़ गया। माघ के महीने में पौने दो महीने की छुट्टी लेकर वे अपने कुछ अन्य साथियों के साथ प्रयाग गये।

प्रयाग में दीक्षा – प्रयाग में साधु-महात्माओं का दर्शन करते हुये, एक दिन वे एक मौनव्रतधारी सन्त की ओर आकृष्ट हुये। उक्त मौनी बलदेवदास जी ने ही उन्हें 'श्रीराममन्त्र' तथा 'रघुनाथदास' नाम दिया। इसके बाद वे लखनऊ लौट आये।

एक बार एक सन्त-मण्डली घुमते-फिरते लखनऊ आयी। समाचार पाकर रघुनाथदास भी सत्संग करने के लिए उनके पास जा पहुँचे। वहाँ कथा-प्रसंग में वे इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें अपनी नौकरी के कर्तव्यों की सुध-बुध नहीं रही।

इधर रघुनाथदास के सत्संग में तल्लीन देखकर हनुमान जी उनका रूप धारण करके उनकी ड्यूटी पर चले गये। सुबह कथा विसर्जित होने पर उन्हें अपनी गलती का भान हुआ। तरह तरह की चिन्ता करते हुए वे लौटे और मित्रों को सारी बात कह सुनायी। परन्तु मित्रों ने उनकी बात को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि एक सैनिक ने उन्हें यथासमय जाकर ड्यूटी पर भेजा था, दूसरा उनके आने पर चार्ज देकर चला गया था और तीसरे ने आकर उनसे चार्ज लिया था। तीनों अपनी जिज्ञासा मिटाने सन्त-मण्डली में गये। उन्हें पता चला कि रघुनाथदास पूरी रात वहीं बिताकर सुबह लौटे थे। सारी बातें सुनने के बाद वहीं के एक प्रसिद्ध महात्मा ने कहा – यह सब कार्य स्वयं श्री रघुवीर जी ने किया है। उन्होंने स्वयं ही अपने भक्त का रूप धारण करके यह लीला की है।

रघुनाथदास को लगा कि उनके कारण स्वयं 'प्रभु को कष्ट

२. The Complete Works of Sister Nivedita, Vol. 1, Pp. 131-33

उठाना पड़ा है', अत: अब मुझे बड़ी सावधानी के साथ अपनी ड्यूटी पर ध्यान देना चाहिये। वहाँ शिविर में प्रतिदिन अनेक सैनिक एकत्र होकर ताल-स्वर के साथ रामचरित-मानस का गान करते थे। उनमें से कुछ ने काफी अनुनय-विनय के साथ रघुनाथदास जी से 'श्रीराममंत्र' की याचना की। भक्तों की परम निष्ठा देखकर आखिरकार उन्हें स्वीकृति देनी पड़ी।

एक दिन कवायद के दौरान अँग्रेज सेनाधिकारी ने पलटन की परीक्षा ली। रघुनाथदास की कुशलता पर परम सन्तुष्ट होकर उसने उन्हें पूरी सेना का ही अधिनायक बना दिया।

भिनगा पर चढ़ाई – कुछ काल बाद भिनगागढ़ के राजा की शिकायत लखनऊ आयी। बारम्बार ऐसी शिकायत आने पर अधिकारियों ने भिनगागढ़ पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लेने का निश्चय किया। हुक्म जारी हुआ और रसद, तोपखाने आदि के साथ सेना ने भिनगागढ़ की ओर कूच किया। सात दिनों बाद वे लोग वहाँ जा पहुँचे। वहाँ के राजा भी अपने सामन्तों के साथ सजधजकर और हाथी-घोड़ों, रथ आदि पर सवार होकर उनका सामना करने को तैयार हुए। भयंकर संग्राम हुआ और खून की नदियाँ बहने लगीं।

सेनानायक – रघुनाथदास को सहसा याद आया कि आज तो रामनवमी है। वे युद्धक्षेत्र में ही एक किनारे एकान्त में जाकर श्रीराम का ध्यान-भजन करने लगे। इसी बीच भिनगा-नरेश ने अपनी सेना को ललकारा और बड़ी तेजी से आक्रमण कर दिया। रघुनाथदास की सेना के पाँव उखड़ते देख भक्तवत्सल भगवान स्वयं ही अपने भक्त का वेश-धारण कर सेना में घुस गये और अकेले ही तोप चलाकर हजारों शत्रुओं को मार डाला, किले को तोड़ डाला और सेना में घुसकर भिनगा-नरेश को गिरफ्तार कर लिया। खजाने का सारा धन मँगवाकर और विजय-पत्र लिखवाने के बाद राजा को छोड़ दिया गया। फिर भक्तरूपधारी भगवान अन्तर्धान हो गये।

ध्यान टूटने के बाद वास्तविक रघुनाथदास जब रणभूमि में आये, तो वहाँ का दृश्य देखकर वे भारी चिन्ता में पड़ गये कि मेरी अनुपस्थिति में ही इतना भयानक युद्ध हुआ और वह समाप्त भी हो गया! यही सब सोचते और लज्जित-संकुचित भाव से वे शिविर में पहुँचे। सेनापति उन्हें देखते ही युद्ध में वीरता दिखाकर अपनी सेना की लाज बचा लेने के लिये उनकी खूब प्रशंसा करने लगा और शाबासी देने लगा। रघुनाथदास ने कहा, "मैंने ऐसा प्रशंसनीय कार्य नहीं किया, बल्कि मुझसे तो अपराध हो गया है – मैं तो अभी अभी प्रभु के ध्यान से उठकर चला आ रहा हूँ।

सेनापति बोला – "तुम सच्चे वीर हो। मैंने अपनी आँखों से तुम्हारी लड़ाई का कर्तब देखा है। तुम्हारी वीरता के कारण ही हमें यह फतह मिली है। संकोच करने की कोई बात नहीं। मैं नवाब से कहकर तुम्हें और भी ऊँचा अधिकारी बनवा दूँगा।

विजय पताका फहराती पूरी सेना लखनऊ की ओर लौट पड़ी। रघुनाथदास सारा माजरा समझ चुके थे। लौटते समय बारम्बार उनके मन में खेद हो रहा था कि स्वयं रघुवीर जी को ही मेरे लिये नररूप धारण कर बड़ा कष्ट उठाना पड़ रहा है, अत: अब मेरे लिये नौकरी छोड़कर निरन्तर उन्हीं का भजन करना उचित होगा।

नौकरी से त्यागपत्र – लखनऊ पहुँचते ही उन्होंने अपना त्यागपत्र लिखकर अँग्रेज सेनापति के सामने प्रस्तुत कर दिया। पर सेनापति ने उसे स्वीकार नहीं किया तथा अन्य अधिकारियों ने भी उसे वापस लेने का अनुरोध किया। इतने लोगों के अनुनय को ठुकराने में असमर्थ कोमलचित्त रघुनाथदास ने कुछ दिनों के लिये अपनी सेवानिवृत्ति का प्रस्ताव टाल दिया।

तीर्थयात्रा – कुछ दिनों बाद उनकी सेना का मेरठ में स्थानान्तरण हो गया। वहाँ उनके गुरुदेव मौनीदास जी का भी शुभागमन हुआ। गुरुदेव के वहाँ एक मास प्रवास से उनका वैराग्यानल और भी प्रज्वलित हो उठा। गुरुदेव को तीर्थाटन के लिये जाते देखकर वे भी सेना को छोड़कर जाने के लिये उतावले हो उठे। आखिरकार वे किसी के भी समझाने से न माने और वहाँ से सीधे हरिद्वार जा पहुँचे। वहाँ पर गंगा-स्नान करने के बाद उन्होंने केवल कुशासन, रामायण तथा तुलसी-माला को छोड़ बाकी सब कुछ दान कर दिया। शरीर के वस्त्रों के अतिरिक्त बाकी वस्त्र भी दान कर दिये और वहाँ से प्रसन्नचित होकर भजन करते हुए गंगा के किनारे किनारे काशी की ओर चलने लगे। मार्ग के कुछ गाँवों में ठहरते हुए कोई एक वर्ष बाद वे वाराणसी पहुँचे और वहाँ राजघाट पर निवास करने लगे। उनकी कीर्ति सुनकर बहुत-से लोग वहाँ उनका दर्शन करने को आने लगे।

अयोध्या की पुकार – इधर जब उनके गुरु मौनीदास जी को सूचना मिली कि रघुनाथदास वाराणसी में आ गये हैं, तो उन्होंने अपने एक शिष्य को उन्हें अयोध्या ले आने को भेजा। गुरु का आदेश पाते ही वे उनका दर्शन करने अयोध्या जा पहुँचे। अपने गुरुदेव के साथ रहकर कुछ काल सत्संग तथा भजन करने के बाद ही उन्हें अपने घर की प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। गुरुदेव की अनुमति लेकर वे अपनी जन्मभूमि को गये। वहाँ उन्हें पिता के स्वर्गवास की सूचना मिली। वहाँ उन्होंने अपने परिवार तथा ग्रामवासियों की खोज-खबर ली और उन्हें प्रभु की महिमा सुनाकर कृतार्थ किया। अपनी माता द्वारा बदरिकाश्रम में भगवान नारायण के दर्शन की इच्छा व्यक्त करने पर वे अपने कुटुम्बियों तथा ग्रामवासियों के साथ उन्हें बद्रीनारायण का दर्शन करा लाये।

उनकी माता वयोवृद्ध हो चुकी थीं। कुछ दिनों बाद वे

बीमार पड़ीं। उन्होंने रघुनाथदास को अपने पास बुलाकर कहा – "बेटा, तुम तो बड़े सुयोग्य सन्त हो, तुम मुझे वैकुण्ठ की प्राप्ति करा दो।" माँ की यह वाणी सुनकर उनके आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे और वे कहने लगे, "माँ, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। तुम्हें अवश्य वैकुण्ठ प्राप्त होगा।"

अपनी माँ के वैकुण्ठ पधारने के बाद उन्होंने पुन: अयोध्या जाने का संकल्प लिया। पत्नी के तीव्र आग्रह से द्रवित होकर उन्होंने उसे भी अपने साथ ले लिया और उसे गुरुपत्नी की सेवा में नियोजित कर दिया। वे स्वयं भी गुरु-सेवा में लगे रहकर साधन-भजन करने लगे। उन्हें एक कन्या तथा पुत्र की प्राप्ति हुई और कुछ काल बाद उनकी सन्तानों तथा पत्नी का एक एक कर निधन हो गया। इसके बाद से उन्होंने स्थिर-भाव से अपना पूरा मन-प्राण प्रभु के भजन में लगा दिया।

धीरे-धीरे उनकी सिद्धि की प्रसिद्धि फैलने लगी और वहाँ का वासुदेव-घाट दूर-दूर तक मशहूर हो गया। प्रतिदिन बहुत से भक्त उनका दर्शन करने तथा उपदेश पाने को आने लगे। लोगों की भीड़ के अनुपात में वासुदेव-घाट की जगह छोटी पड़ने के कारण वे सरयू नदी के तट पर चले आये और वहाँ एक छावनी का निर्माण कराकर निवास करने लगे। वहाँ भी उनके भजन-भक्ति की उत्ताल तरंगें हजारों लोगों के प्राणों को शीतल करने लगीं।

राजा का सन्देश – कुछ चुगलखोर लोगों ने वहाँ के राजा मानसिंह के पास जाकर सूचना दी की बाबा रघुनाथदास आपकी बहुत-सी जमीन पर कब्जा करते जा रहे हैं। राजा साहब ने सन्देश भेजा – "आप अपने जरूरत भर की जगह ले लें, अधिक जगह घेरकर क्या करेंगे?"

रघुनाथदास ने उत्तर भेजा – "मुझे तो केवल एक पर्णकुटीर की जरूरत है, बाकी जमीन पर प्रभु के भक्तगण रहकर भजन करते हैं, पर यदि आपकी इच्छा नहीं है, तो मैं सानन्द इसे छोड़ देता हूँ, आप इसे ग्रहण कर लीजिये।" ऐसा कहकर वे अयोध्या त्यागकर 'मड़ना' ग्राम जा पहुँचे। बाकी साधु-समाज भी उनके साथ वहीं जाकर ठहर गये और भजन करने लगे।

महाराज के चले जाने के बाद राजा मानसिंह को बड़ा खेद हुआ। उन्होंने रघुनाथदास जी को बुलाने के लिये मड़ना ग्राम में कई बार आदमी भेजे। इसके बावजूद उनके न आने पर राजा स्वयं ही उनसे मिलने गये और अनुनय-विनय करके उन्हें पुन: अयोध्या ले आये।

इस बार बाबाजी ने सरयू के बीच स्थित माँझा (द्वीप) में रहना पसन्द किया। माँझा में उनके निवास का प्रबन्ध करने के बाद राजा साहब अपने महल को लौट गये। बहुत-से लोग नावों में सवार होकर उनके दर्शन को आने लगे और अनेक साधु-सन्त-तपस्वी वहीं रहकर साधन-भजन करने लगे।

रीवाँ नरेश से भेंट – कुछ काल बाद अपने एक हजार सेवकों आदि के साथ रीवाँ-नरेश महाराज के दर्शन करने आये। वे उनके ज्ञान तथा सिद्धियों पर इतने मुग्ध हो गये कि उन्हें प्रणामी के रूप में २१ हजार रुपयों की थैली और तीन हजार लड्डू भेंट किये। तीन हजार लड्डुओं के साथ एक-एक मुद्रा साधुओं-ब्राह्मणों में वितरित कर दी गयी। बचे हुये रुपये भण्डारे के लिये रखवा दिये गये।

पुन: छावनी में – एक दिन फैजाबाद के डिप्टी मजीस्ट्रेट उनका दर्शन करने आये। नाव से उतरते समय वे कीचड़ में गिर पड़े, परन्तु वे उसी हालत में महाराज का दर्शन करने जा पहुँचे। उन्होंने कहा कि भक्तों को नदी पार करके दर्शनार्थ आने में बड़ा कष्ट होता है और अनुरोध किया कि वे फिर छावनी में ही लौटकर निवास करें। महाराज की स्वीकृति मिली और शीघ्र स्थानान्तरण का प्रबन्ध कर लिया गया।

परीक्षा – छावनी में रहने वाले 'किशुनदास' नामक एक साधु के मन में बाबा की परीक्षा लेने की इच्छा हुई। वे आश्रम के कोठारी 'पूरनदास' के कामकाज में सहायता करके मेल-जोल बढ़ाने लगे। पूरनदास का उन पर ऐसा विश्वास जम गया कि वे अपना कार्यभार किशुनदास को देकर बद्रीनारायण का दर्शन करने जाने की सोचने लगे। गुरुदेव की भी स्वीकृति पाकर पूरनदास अपनी चिराकांक्षित तीर्थयात्रा पर चल पड़े।

इधर किशुनदास-जी जी-खोलकर खर्च करने लगे। एक दिन रघुनाथदास जी ने पूरे अयोध्यावासियों को भण्डारा देने का संकल्प किया। जोर-शोर के साथ हलुआ, पूरी, कचौड़ी, मालपुआ आदि बनाने की तैयारी चलने लगी। किशुनदास ने भी परीक्षा का अच्छा मौका देखा और आधा घी छिपाकर रख दिया। आधी रात तक पकवान बनाते बनाते सारा घी खर्च हो गया। तत्काल रुपया तथा घी का पात्र लेकर पूरा नगर घूम आने पर कहीं भी घी नहीं मिला। घी की व्यवस्था तत्काल आवश्यक थी। और कोई चारा न देख रघुनाथदास जी ने कहा – तुम लोग बीस घड़े लेकर सरयू जी के तट पर जाओ और उनसे सारी बातें निवेदन करने के बाद उधार के रूप में घी भरकर ले आओ। वे लोग तत्काल सरयू की ओर चल पड़े और आज्ञानुसार घड़ों में जल भरकर ले आये। उसी को घी की कड़ाही में डालकर पूड़ियाँ आदि तल ली गयीं। किशुनदास यह सब देखकर दंग रह गये, परन्तु उनकी शंका अब भी पूरी पूरी मिटी न थी। उन्होंने आगे चलकर एक बार फिर परीक्षा करने का संकल्प किया।

प्रात:काल पूरे अयोध्या की जनता एकत्र हुई। इतना बड़ा भण्डारा वहाँ के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। बाद में महाराज ने २० घड़े घी मँगवाकर सरयू जी में डलवा दिया।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

गीता-अध्ययन की भूमिका (४)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

श्रीकृष्ण – एक आदर्श आचार्य

सशक्त आशावाद का निनाद करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वे अपनी दुर्बलता को फेंककर स्वयं को स्थिर कर लें। अर्जुन को किसी भी तरह का ज्ञान देने के पूर्व उनके मन को स्थिर करना ही श्रीकृष्ण का उद्देश्य था, क्योंकि शोक-सन्तप्त मन ज्ञान की प्राप्ति का उपयुक्त आधार नहीं है। जब तक हम निराशा की अवस्था से निकलकर शान्त नहीं हो जाते, तब तक हम कोई उत्कृष्ट सलाह को आत्मसात् नहीं कर सकते। यह हमारे प्रतिदिन के अनुभव में ही दिखाई पड़ जाता है। अत: सर्वप्रथम अर्जुन के मन को शान्त करना आवश्यक था और तभी वे युक्ति की बातें तथा सलाह ग्रहण कर पाते। अत: श्रीकृष्ण सशक्त शब्दों में (गीता, २/३) अर्जुन को प्रबोधित करते हैं –

"हे अर्जुन, तुम इस तरह की कायरता का आश्रय न लो, क्योंकि यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को तुम त्याग दो और उठकर खड़े हो जाओ।"

इस प्रकार की फटकार का फल काफी असरदार हुआ। इसने अर्जुन के मन को स्थिर कर दिया। क्योंकि ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, त्यों त्यों देखते हैं कि अर्जुन शान्त होते जा रहे हैं और श्रीकृष्ण के साथ उनकी बातों में कुछ युक्ति भी दिखाई देती है। अब वे बिना खेद तथा भावुकता से अभिभूत हुए अपनी शंकाओं को अधिक व्यवस्थित भाषा में रखते हैं। वे कहते हैं (वही, २/४) –

"मैं भीष्म तथा द्रोण के प्रति इन तीक्ष्ण बाणों के साथ कैसे युद्ध करूँगा? वे मेरे लिए पूजनीय हैं, वे मेरे ज्येष्ठ हैं और सबके आदरणीय हैं।"

इसके बाद वे कहते हैं (वही, २/५) –

"इन महान् गुरुओं की हत्या करने की अपेक्षा मैं भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह करना कहीं अधिक पसन्द करूँगा। धन तथा सत्ता के पीछे दौड़ रहे शत्रुओं के दल के साथ उनके जुड़े होने के कारण यदि मैं उन्हें मार डालूँ और यदि मैं वह धन तथा सत्ता प्राप्त कर लूँ, तो भी यह सब खून से सना होगा। मुझे धन और सत्ता का सुख तो मिलेगा, पर वह बेगुनाह लोगों और हमारे अपने सम्बन्धियों के रक्त से रंजित होगा।"

इसके बाद अर्जुन अपने गुरु के समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं –

कार्पण्य-दोषोपहत-स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म सम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूमि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। २/७

– "मोहरूपी कृपणता के दोष से अभिभूत और किंकर्तव्य-विमूढ़ चित्तवाला होकर मैं तुमसे पूछ रहा हूँ। मेरे लिए जो निश्चित रूप से कल्याणकर हो, वह मुझे बताओ, क्योंकि मैं तुम्हारी शरण में आया हुआ शिष्य हूँ।"

अर्जुन उपरोक्त शब्दों में श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी समस्या रखकर उनसे पथ-निर्देश के लिए अनुरोध करते हैं। विनाश तथा उलझन में फँसा हुआ मन किसी उच्चतर शक्ति के समक्ष नतमस्तक हो जाता है। अर्जुन इस दृष्टि से बड़े भाग्यशाली थे कि उन्हें राह दिखाने के लिए श्रीकृष्ण उपलब्ध थे। "मैं इस विषय में किंकर्तव्य-विमूढ़ हूँ कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। मैं एक विचित्र परिस्थिति के बीच पड़ा हूँ, अत: मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ। मेरा स्वभाव संकीर्ण मानसिकता से आक्रान्त हो गया है, इसीलिए मैं तुमसे पूछ रहा हूँ। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है; मेरे सच्चे कल्याण की दृष्टि से मेरा वर्तमान कर्तव्य क्या है? मेरी सारी परिस्थितियों पर भलीभाँति विचार करके तुम मुझे उत्तर दो।" सभी संकटपूर्ण परिस्थितियों में हमें एक ऐसा मार्ग ढूँढ़ना होगा, जो हमारे लिए केवल सुखद ही न हो, बल्कि हमें सच्चे कल्याण की ओर ले जाय। कठोपनिषद् (१/२/१) में हम देखते हैं कि हमें केवल प्रेय नहीं, बल्कि श्रेय की आवश्यकता है। वहाँ यम नचिकेता से कहते हैं –

अन्यत् श्रेयो अन्यत् उतैव प्रेयः
ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुः भवति
हीयते अर्थात् य उ प्रेयो वृणीते –

– "श्रेय या हितकर एक चीज है और प्रेय या सुखकर उससे बिल्कुल अलग है; भिन्न भिन्न फल देनेवाले ये दोनों मनुष्य को बाँधते हैं। हितकर को ग्रहण करनेवाला भला हो जाता है; परन्तु जो सुखकर को चुनता है, वह लक्ष्य से भटक जाता है।"

मूर्ख सुखकर को चुनता है और अन्त में दु:ख उठाता है। वह जीवन का वास्तविक लक्ष्य खो देता है। कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय में यम नीतिशास्त्र की एक अतीव महत्त्वपूर्ण

समस्या पर विचार करते हैं। यहाँ अर्जुन पूछते हैं –

"मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य क्या है? प्रेय और श्रेय – इन दोनों में से मेरे लिए कौन-सा हितकर है; तुम्ही बताओ और मैं तुम्हारे कहे अनुसार करूँगा। मेरे लिए कल्याणकारी क्या है, यह तुम्हीं निर्धारित कर दो, क्योंकि मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हूँ और मैं अपना भला समझ नहीं पा रहा हूँ; मैं तुम्हारा शिष्य हूँ और तुम्हारा निर्णय स्वीकार करूँगा। मैं तुम्हीं को अपना मित्र, सलाहकार तथा मार्गदर्शक मानता हूँ।"

इस प्रकार द्वितीय अध्याय का सातवाँ श्लोक गीताज्ञान के सम्प्रेषण का मार्ग खोलता है, क्योंकि यहीं परेशान और शंकाग्रस्त अर्जुन श्रीकृष्ण के सामने आत्मसमर्पण करके उनसे पथनिर्देश के लिए याचना करते हैं। इस प्रकार किंकर्तव्य-विमूढ़ मन एक शान्त दर्शन के समक्ष आत्मसमर्पण करता है। यह जरूरी नहीं कि अपने सामने धाक जमाने के लिए आनेवाले किसी भी ऐरे-गैरे के सामने हम आत्मसमर्पण करके अपने पास जो भी थोड़ा-सा ज्ञान है, उसे नष्ट कर डालें। कठोपनिषद् (१/२/५) हमें इस खतरे से आगाह करती है –

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः –

– "अज्ञान में डूबे रहकर भी स्वयं को बुद्धिमान तथा ज्ञानी माननेवाले मूर्ख लोग, अन्धे मनुष्य के द्वारा ले जाये जा रहे अन्धों के समान लड़खड़ाते हुए चक्कर लगाते रहते हैं।"

श्रीकृष्ण को हमने जितना देखा है, उससे हमें लगता है कि वे एक ज्ञानी पुरुष थे और उनके आसपास के लोग उनसे मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते थे। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अर्जुन ने उनसे पथनिर्देश की याचना की। मैं बारम्बार कहता हूँ कि कृष्ण सर्वदा अनासक्त थे, घटनाओं में गहराई से डूबे रहकर भी अपने मन को उनसे ऊपर उठाये रहते थे। इमर्सन जीवन के आदर्श पर चर्चा करते हुए गीता के एक प्रसिद्ध श्लोक का भावानुवाद करते हुए कहते हैं कि अकेले रहकर स्वयं को भीड़ में खो देना या शान्त बने रहना सहज है, परन्तु आदर्श व्यक्ति वह है जो समाज में रहकर कर्म करते हुए भी अपने चित्त को निर्जन बनाये रखता है। यदि हम जगत् के आदेश पर रोते हैं और जगत् के आदेश पर हँसते हैं, तो यह बड़ी साधारण-सी बात है, परन्तु पूर्णता केवल तभी आती है, जब हम बाजार में भी अपने मन को शान्त रख पाते हैं। अन्यथा यह तो केवल एकांगी विकास हुआ।

अर्जुन के उलझनपूर्ण अवस्था में होने पर भी श्रीकृष्ण शान्त हैं और इसे दूर करने की क्षमता रखने के कारण ही मुस्कुराते हुए बोलते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति के समक्ष समर्पण करना मानो अपनी उन्नति सुनिश्चित करना है। यहाँ शिष्य एक महान् आत्मा है और आचार्य भी; और जब एक महान् शिष्य एक महान् आचार्य के सामने खड़ा होता है, तो उस सम्पर्क से हम एक जीवनदायी व्यक्तव्य की अपेक्षा कर सकते हैं। कठोपनिषद् (१/२/७) इसे निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करता है – **आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः** – "जब एक अद्भुत शिष्य और एक अद्भुत गुरु एकत्र होते हैं, तो महान् ज्ञान का उदय होता है।" अतः अर्जुन श्रीकृष्ण को अपने पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यदि किसी व्यक्ति के सारे पहलुओं की भलीभाँति जाँच करने के बाद हम उसे उपयुक्त पाकर उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं, तो हम उसके हाथों में सुरक्षित हैं। इसके विपरीत यदि हम बिना विचार किए किसी भी व्यक्ति के हाथ में अपनी स्वाधीनता को सौंप दें, तो हमारी बरबादी की पूरी सम्भावना है। इस देश में हमें इस बात का ध्यान रखना होगा। जहाँ गुरुओं की बहुतायत हो और शिष्यों की कमी, तो आप समझ नहीं पाते कि किसे समर्पण करें। एक सुन्दर श्लोक में ऐसी स्थिति पर बड़ा सुन्दर व्यंग्य किया गया है –

गुरवो बहवः सन्ति शिष्य-वित्तोपहारिणः।
तं एकं शंकरं वन्दे शिष्य-सन्तापहारिणम्।

– ऐसे हजारों गुरु हैं, जो शिष्यों का धन हरण करते रहते हैं; परन्तु इन समस्त गुरुओं से भिन्न एक गुरु शंकर की मैं वन्दना करता हूँ, जो शिष्य के दुःखों को दूर करते हैं।

एक बार यदि हमें ऐसे शिक्षक प्राप्त हो जायँ, तो उनके समक्ष हमारे आत्मसमर्पण में कोई हानि नहीं है, क्योंकि हम किसी व्यक्तिविशेष को नहीं, बल्कि उनमें रूपायित ज्ञान को समर्पण कर रहे हैं। इसके विपरीत यदि हम किसी भी ऐरे-गैरे व्यक्ति को समर्पण करें, तो यह गुरु तथा शिष्य दोनों के लिए ही हानिकारक होगा। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "एक बार एक पनिहा-साँप ने एक मेढक को पकड़ लिया, परन्तु वह उसे निगल नहीं पा रहा था। मेढक पीड़ा से चिल्ला रहा था, परन्तु साँप न उसे निगल पा रहा था और न ही छोड़ पा रहा था। साँप की जान भी आफत में थी। परन्तु यदि किसी नाग ने उसे पकड़ा होता, तो वह एक-दो पुकार में ही ठण्डा हो गया होता।" गुरु यदि ज्ञानी नहीं है, तो गुरु और शिष्य दोनों कष्ट उठायेंगे। गुरु के अन्दर अपनी और साथ ही अपने शिष्य के कष्टों को भी पचा जाने की सामर्थ्य होनी चाहिए। उसमें शिष्य को ऊपर उठाकर उसकी रक्षा करने की क्षमता होनी चाहिए।

विवेक-चूड़ामणि (श्लोक ३३) में श्री शंकराचार्य सच्चे गुरु के लक्षण बताते हैं –

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।

ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।।
अहैतुक-दयासिन्धुः बन्धुरानमतां सताम् ।

– "वे जो वेदों के ज्ञाता, निष्पाप, कामनाओं से रहित, ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ हों, जो ब्रह्म में स्थित हो चुके हों, ईंधन समाप्त हुई अग्नि के समान शान्त हों, अकारण दया के सिन्धु हों और जो अपने सामने प्रणत होनेवाले सभी लोगों के बन्धु हों।"

इस श्लोक का प्रत्येक शब्द अर्थ एवं महत्त्व से परिपूर्ण है। **श्रोत्रियो** – सच्चे गुरु को श्रुतियों का भाव ज्ञात होना चाहिए; केवल शब्द ही नहीं बल्कि शास्त्रों का भाव भी; उनका जीवन शास्त्रों की शिक्षा के अनुरूप होना चाहिए। **अवृजिनो** – उन्हें पापों से मुक्त होना चाहिए; क्योंकि केवल पापमुक्त व्यक्ति ही रक्षा करने की क्षमता रखता है। और यह उसी को प्राप्त है जिसने नीति तथा सदाचार में पूर्णता पा ली हो। **अकामहतो** – उन्हें किसी कामना से आक्रान्त नहीं होना चाहिए, उन्हें स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के संवेग से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए; दूसरों का कल्याण ही उनकी एकमात्र इच्छा होनी चाहिए। **ब्रह्मवित्तमः** – वे जो ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हों, वे जो ईश्वर में तल्लीन हों, ताकि आप उन्हें कहीं से भी स्पर्श करें तो उनमें ईश्वर का ही अनुभव करें। **शान्तः** – जो पूर्णतः शान्त हों; स्वयं शान्त हुए बिना कोई दूसरों में शान्ति नहीं ला सकता। उन्हें उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु वे जहाँ कहीं भी रहते हैं, वे स्वयं एक जीवन्त मन्दिर, एक जीवन्त मस्जिद या एक जीवन्त गिर्जा बन जाते हैं, इसलिए कि उन्होंने ईश्वर के चरणों का स्पर्श किया है। उन्होंने इसे कैसे प्राप्त किया है? **निरिन्धन इवानलः** – जलकर समाप्त हो चुकी अग्नि के समान; मानव मन की तुलना प्रज्वलन्त अग्नि से की गयी है, क्योंकि उसमें निहित कामनाएँ प्रज्वलन्त अग्नि के समान हैं और उनके विषय ईंधन के समान। सच्चे गुरु को एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जिनमें कामना की सारी अग्नि पूरी तौर से जल चुकी हो। जब अग्नि में ईंधन पड़ना बन्द हो जाता है, तब वह बुझ जाती है और शान्त हो जाती है। यही वह मन है, जिसने समस्त कामनाओं को नष्ट कर डाला है, जो **आप्तकाम, आत्मकाम** और **अकाम** बन चुका है – वह मन जिसने सारी कामनाओं को पूरा कर लिया है, आत्मा ही जिसकी कामना का विषय है, जो प्रत्येक दृष्टि से कामनाहीन है। हमारे मन में विविध कामनाएँ हैं और हम उनकी पूर्ति चाहते हैं। परन्तु उनका हृदय परिपूर्ण है। वह कैसे परिपूर्ण हो जाता है? क्योंकि उनकी कामनाएँ आत्मा से सम्बद्ध हैं। **आप्तकामत्वे च आप्तकामता** – आत्मकामता का तात्पर्य है हृदय की पूर्णता; यह वह उत्प्रेरक तत्त्व है, जो अन्य सभी कामनाओं को नष्ट कर डालता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के मतानुसार अतृप्त आकांक्षाओं के रूप में कामना व्यक्ति के हृदय में निवास करती है। हमारी प्रत्येक कामना हमारे हृदय की रिक्तता से उत्पन्न होती है, जो परिपूर्ति की लालसा रखती है। अतः सभी कामनाएँ हमारे हृदय में एक रिक्तता की द्योतक हैं। इसे सन्तुष्ट करने के लिए बाहर में एक क्रिया की आवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया के पीछे दो अवस्थाएँ हैं। प्रथमतः तो भीतर एक अभाव का बोध होता है, एक ऐसी प्रवृत्ति जो सन्तुष्टि चाहती है। यह प्रवृत्ति अपने अनुकूल उस वस्तु के लिए एक इच्छा का रूप ले लेती है, जो यह सन्तुष्टि देने में सक्षम हो और अन्ततः उस इच्छा की सन्तुष्टि के लिए क्रिया होती है। मनोविज्ञान में मनुष्य की भूख, यौन आदि चौदह प्राथमिक प्रवृत्तियों की तालिका बनायी गयी है। उदाहरण के लिए इनमें से सर्वाधिक सुपरिचित भूख को लेने पर हम इसकी तीन अवस्थाएँ देखते हैं – (१) भीतर की प्रवृत्ति, (२) किसी बाह्य वस्तु की इच्छा और (३) उस वस्तु को प्राप्त करने की क्रिया। अन्तिम अवस्था की क्रिया उस प्रवृत्ति की सन्तुष्टि में समाप्त हो जाती है। जब पेट भरा रहता है, तब भूख नहीं रहती, तब भोजन की इच्छा नहीं रहती और तदनुसार उस प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिए क्रिया भी नहीं होती। अतः क्रिया भीतर की प्रवृत्ति और उसके अनुरूप बाहर की वस्तु के लिए इच्छा पर निर्भर है। इस प्रवृत्ति के अभाव में न तो इच्छा होगी और न क्रिया। जीवन क्रियाओं का एक चक्र है, क्योंकि हृदय प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं का ज्वालामुखी है। यदि आप एक ऐसे अस्तित्व की कल्पना कर सकते हों, जिसमें ये प्रवृत्तियाँ तथा कामनाएँ विद्यमान न हों, तो आपको कामना-प्रेरित क्रियाओं से मुक्त अवस्था की प्राप्ति हो जायेगी। वेदान्त पूर्णता की एक ऐसी अवस्था के बारे में बताता है, जो इच्छाओं, कामनाओं तथा कामना-प्रेरित कर्मों से मुक्त है। यह **अकामता** – कामनाहीनता **आत्म-कामता** – आत्मा की कामना से आती है। कहीं हम भ्रमवश इस अवस्था को हृदय की रिक्तता या मृत्यु न समझ लें, इसलिए वेदान्त इस अवस्था के साथ एक तीसरी विशेषता भी जोड़ता है जो जीव की पूर्णता का द्योतक है – **आप्त-कामता**। किसी भी कामना से रहित शान्त मन की तुलना एक ऐसी सुन्दर शान्त झील से की गयी है, जिसमें कोई भी लहर नहीं है। झील में एक पत्थर फेंकने से उसकी शान्ति भंग हो जाती है; वैसे ही हमारे मन में उठनेवाली कामनाएँ इसमें तरंगें उत्पन्न करती हैं।

सामान्य जीवन में, गहन निद्रावस्था के अतिरिक्त मन अन्य किसी भी काल में शान्त नहीं होता। ध्यान तथा आत्मसंयम के द्वारा हमें मन की इस शान्ति को अपनी जाग्रत अवस्था की एक विशेषता के रूप में स्थापित करना होगा। इस शान्ति का एक कण भी हमारे दैनन्दिन जीवन के लिए एक महान् सम्पदा है। फिर एक पूर्णताप्राप्त व्यक्ति के द्वारा उपलब्ध पूर्ण शान्ति के मूल्य तथा शक्ति की तो बात ही क्या है! वे एक उत्तम गुरु हैं, करुणा के समुद्र हैं – **अहैतुकदयासिन्धुः** – उनकी दया पूरे जगत् को शान्त करने के लिए एक स्थिर धारा के रूप में प्रवाहित होती है; उनका अपना कोई स्वार्थ ही नहीं है, जिसके लिए वे इसे रोकें। दया का यह सागर अपनी कगारों के ऊपर से होकर बहता है और आस-पास के लोगों के मनों को शान्त करना चाहता है। यह अपने निकट के द्वन्द्व तथा संशय से ग्रस्त लोगों में अपने सुर का संचार कर देना चाहता है। वह बिना किसी हेतु के कार्य करता है। उनके प्रेम का प्रवाह हमारी ओर से किसी चीज पर निर्भर नहीं करता। इसमें कोई कृत्रिम प्रयास नहीं होता, यह सहज भाव से ही उमड़ता रहता है। इस दया में किसी प्रकार का सशर्त सम्बन्ध नहीं होता। **बन्धुः आनमतां सताम्** – वे अपने में शरण लेनेवाले सभी लोगों के मित्र हैं। ऐसे गुरु हमारे विश्वस्त मित्र होंगे, क्योंकि वे जो कुछ भी करेंगे, वह हमारी भलाई के लिए ही होगा।

शंकराचार्य कहते हैं कि यदि हमें ऐसे व्यक्ति मिल जायँ, तो हमें उनकी शरण ले लेनी चाहिए। ऐसे गुरु हमें ऊपर उठाने के लिए सचमुच ही कुछ कर सकते हैं। पर दुर्भाग्यवश ऐसे गुरु अत्यन्त विरल हैं और ऐसे लोगों को छोड़ किसी अन्य को समर्पण करना खतरे से खाली नहीं है। अत: जब तक ऐसे शिक्षक का आश्रय नहीं मिलता, तब तक हमें स्वयं पर ही निर्भर रहना सीखना होगा। परन्तु हम उन कम क्षमतावाले पथ-प्रदर्शकों से भी सहायता ले सकते हैं। यदि हमारे पास एक सक्रिय मस्तिष्क हो, तो हम किसी भी व्यक्ति से शिक्षाएँ ग्रहण कर सकते हैं। सक्रिय मस्तिष्क प्रकृति की हर वस्तु से शिक्षा ग्रहण कर सकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए प्रकृति की हर वस्तु ज्ञान का एक स्रोत है। उसके लिए प्रत्येक नदी और निर्झर एक गुरु है। अत: सबसे अच्छा तो यह है कि हम अपनी स्वयं की स्पष्ट समझ पर निर्भर रहना सीखें। साधारण गुरुओं के हाथों में अपनी स्वाधीनता को सौंप देना कोरी मूर्खता है। वेदान्त इसकी अनुमति नहीं देता। परन्तु अर्जुन के मामले में, उनका सौभाग्य था कि वे श्रीकृष्ण के समान एक जगद्गुरु को पा सके थे।

अत: अर्जुन उनमें शरण लेते हैं। हमारे सन्दर्भ में सम्भव है कि श्रीकृष्ण सशरीर उपस्थित न हों और श्रवणीय ध्वनि में न बोलें, परन्तु उनकी शिक्षाएँ हमें स्पष्ट भाषा में प्राप्त होती हैं। केवल उनकी सशरीर उपस्थिति को छोड़ हम उनकी शिक्षाओं की सहायता तथा अन्य सारी सुविधाएँ ले सकते हैं।

फिर, ज्ञान की उपलब्धि में विनम्रता एक अनिवार्य शर्त है। सांसारिक ज्ञान के लिए शायद इसकी उतनी आवश्यकता न हो, वैसे वहाँ भी उसकी कुछ-न-कुछ जरूरत तो है ही। परन्तु जब आप आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में आते हैं, तो यह पूर्णत: आवश्यक हो जाता है। अर्जुन की विनम्रता, शक्ति से उत्पन्न हुई थी, अत: वह सच्ची विनम्रता थी। सभी लोगों के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं, जब वे अपनी परिस्थितियों के दबाव तथा तनाव का अनुभव करते हैं और तब उनका पूरा व्यक्तित्व झुक जाता है और वे विनयपूर्वक ज्ञान के लिए याचना करने लगते हैं। अर्जुन जब पूरी विनम्रता के साथ श्रीकृष्ण से मार्गदर्शन हेतु अनुरोध करते हैं, उस समय वे एक ऐसी ही मन:स्थिति में हैं। उपदेश का बीज प्राप्त होने, उसके अंकुरित होने तथा फलदायी होने के लिए जैसी मन:स्थिति आवश्यक है, अर्जुन ठीक वैसी ही मन:स्थिति में हैं। इस विनम्रता तथा गम्भीरता के अभाव में सारी नैतिक तथा आध्यात्मिक खोजें अपनी फलदायिनी शक्ति खो बैठती हैं। सभी निरर्थक खोजें निष्फल हैं। सड़क से गुजरते हुए व्यक्ति के मन में एक निरर्थक प्रश्न उठता है, "क्या ईश्वर का अस्तित्व है?" और वह उसके उत्तर के लिए प्रतीक्षा भी नहीं करता, वह इससे उदासीन है। उसके लिए इस प्रश्न का कोई तात्पर्य नहीं। अधिकांश लोगों के मामले में ईश्वर तथा आध्यात्मिक जीवन विषयक प्रश्न इसी श्रेणी में आते हैं। गम्भीरता का समर्थन पाये बिना प्रश्न तथा उनके उत्तर अपनी जीवन्तता तथा फलप्रसवता को खो बैठते हैं। किसी विषय में रुचि लेने से उसके ज्ञान का मूल्य बढ़ जाता है। अर्जुन के मामले में यह उनके लिए एक ज्वलन्त प्रश्न था। अर्जुन का प्रश्न नैतिक संघर्ष की भट्ठी से निकला था। प्रश्न की यह सजीवता उत्तर को भी दसगुना जीवन्त बना देती है।

इस प्रकार भगवद्-गीता की शिक्षा आरम्भ होती है। इसमें प्रस्तुत की गयी समस्या किंकर्तव्य-विमूढ़ता की समस्या है, जो नैतिक कर्तव्यों के द्वन्द्व से उत्पन्न होती है। इसके उत्तर में दिया गया ज्ञान इस उलझन को दूर करने के लिए है। क्या श्रीकृष्ण के उपदेश अर्जुन के मन की उलझनों को दूर कर सके? यदि वे ऐसा कर सके हों, तभी वे हमारे सम्मानपूर्ण स्वीकृति के योग्य हैं। अर्जुन के मामले में हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त ज्ञान ने उनके मन के द्वन्द्व को दूर कर दिया था। अट्ठारहवें अध्याय (श्लोक ७२) में श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते हैं –

कच्चित् एतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चित् अज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।

– "हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्र चित्त से इसे सुना; हे धनंजय, क्या

तुम्हारे अज्ञान की भ्रान्ति दूर हुई?''

अर्जुन ने उत्तर दिया (श्लोक ७३) –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात् मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।

– ''हे अच्युत, तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, संशय दूर हो गये हैं और स्मृति लौट आयी है। अब तुम जो भी आज्ञा दोगे, मैं वैसा ही करूँगा।''

सही ज्ञान के बिना संशय कैसे जा सकता है? रचनात्मक संशय ही समस्त ज्ञान की कुंजी है और ज्ञान का उदय होने से सभी संशयों का नाश हो जाता है। जीवन के सन्दर्भ में दर्शन की यही उपयोगिता है। जीवन हर कदम पर समस्याएँ खड़ा करता है; मन शंकाओं तथा उलझनों से अभिभूत हो जाता है; और हम मार्गदर्शन के लिए दर्शनशास्त्र के ज्योतिर्मय ज्ञान की ओर उन्मुख होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास थोड़ा-बहुत ज्ञान रहता है, जिसकी सहायता से वह जीवन की शान्त धारा को पार करता है। परन्तु जीवन में आँधी-तूफान आने पर यह थोड़ा-सा ज्ञान या प्रकाश हमारे काम नहीं आता। तब मानव-मन स्थिर प्रकाश की खोज करता है और पूछता है, ''क्या इससे भी अच्छा कोई प्रकाश है, ऐसा निष्कम्प प्रकाश, जो हर परिस्थिति में उपयोगी हो सके?'' हम एक और भी अधिक स्थिर ज्ञान चाहते हैं, जो जीवन की हर परिस्थिति में हमें सहारा दे सके। दर्शन उस ज्ञान की खोज है, जो स्वयं स्थिर हो और जो जीवन के फिसलन-भरे पथ पर अपने पाँवों को स्थिर रखने में हमारी सहायता कर सके। परिस्थितियों के तूफानों के बीच से जीवन की नाव को खेने के लिए हम एक स्थिर ज्ञान का मार्गदर्शन चाहते हैं। वेदान्त में हमें यह ज्ञान प्रदान करने की क्षमता है, जो हमारे पाँवों को स्थिर तथा मस्तिष्क को दृढ़ रख सके। श्रीकृष्ण हमें यही ज्ञान देना चाहते हैं; संशय तथा उलझनों के बीच व्यवस्था लाने के लिए वे हमें सही ज्ञान देना चाहते हैं। इस शिक्षा के फलस्वरूप हम अर्जुन को यह कहते हुए पाते हैं कि उनके संशय दूर हो चुके हैं और वे यथादेश करने को तैयार हैं। परन्तु श्रीकृष्ण उन्हें यह या वह करने का निर्देश नहीं देते। वे कहते हैं (१८/६३) –

इति ते ज्ञानं आख्यातं गुह्यात् गुह्यतरं मया ।
विमृश्य एतत् अशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।

– ''इस प्रकार मैंने तुम्हें सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ज्ञान दे दिया है, इसकी भलीभाँति परीक्षा करके जो तुम्हें उचित लगे, वैसा करो।''

श्रेष्ठ गुरु वे हैं, जो अपने स्वयं के सुनिश्चित समाधान न थोपकर, शिष्यों द्वारा स्वयं समस्या का समाधान करने में सहायता देते हैं। वे कभी शिष्यों की स्वयं निर्णय लेने की स्वाधीनता समर्पित करने को नहीं कहते। किसी बड़े नाम का उल्लेख होने का फल यह नहीं होना चाहिए कि हम अपनी निर्णय लेने की स्वाधीनता का समर्पण कर दें। यही श्रीकृष्ण और महान् बुद्धदेव का कहना है। वस्तुतः हर सही प्रकार के गुरु एक ही बात कहेंगे। वे जो कुछ भी कहते हैं, उसे भलीभाँति उलट-पलट कर देखो। या फिर जैसा कि यम ने कठोपनिषद् में कहा, ''उसके चारों ओर जाओ और सभी तरफ से तथा सभी दृष्टियों से उसका भलीभाँति परीक्षण करो।'' पहले गुरु तथा उनकी शिक्षाओं की परीक्षा करो और तब उन्हें स्वीकार करो। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, ''जैसे खजांची रुपये की ठोक-बजाकर जाँच कर लेता है, वैसे ही तुम मेरी जाँच कर लो।'' स्वामी विवेकानन्द से उन्होंने ऐसा ही कहा। ऐसे कितने गुरु होंगे, जो इस तरह की परीक्षा में खरे उतर सकेंगे! हमें देखना होगा कि उनमें से कितनों में से ठीक ध्वनि निकल रही है। एक सच्चा गुरु कहेगा, ''मेरा कार्य है तुम्हारे हाथ में दीपक पकड़ा देना और तुम्हें स्वयं ही अपने मार्ग पर चलना होगा।'' दर्शन एक दीपक है, जिसे इस अज्ञान के जंगल में आप एक मार्गदर्शक के रूप में ले सकते हैं। दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं, ''मैं साधक के हृदय में छोटा-सा ज्ञानदीप रख देता हूँ, जिससे वे अपना रास्ता पा लेते हैं। मेरा कार्य केवल दीप को जला देना है।'' यही थोड़ी-सी सहायता हमें बाहर से मिलती है, परन्तु यदि हम उसका ठीक ठीक उपयोग करें, तो उतना ही काफी है। सच्चा गुरु अपने लिए और साथ-ही-साथ शिष्य के लिए भी स्वाधीनता की माँग करता है। वैसे हम अपने ही साँचे में शिष्य को गढ़ते हैं। यदि गुरु एक छोटा साँचा है, तो उसमें जिस शिष्य को ढाला गया है, वह भी उसी प्रकार का होगा, भले ही उसमें अधिक क्षमता हो। जो गुरु स्वयं ही उलझन में पड़ा हो, वह शिष्य में और भी अधिक उलझनें पैदा करेगा। अतः इस विषय में मूल्यांकन स्वाधीन भाव से होना चाहिए।

गीता के सभी अट्ठारह अध्यायों में हम एक ऐसे दर्शन के सम्मुखीन हैं, जो ऐसा उद्धारक ज्ञान देना चाहता है, जिसके द्वारा लोग स्वयं ही अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकें। यह इसकी सक्रिय विशेषता है। इस ज्ञान को ग्रहण करना तथा काम में लगाना हमारे अपने प्रयासों पर निर्भर करता है। वेदान्त की दृष्टि से दर्शन को केवल बौद्धिक अध्ययन व चर्चा तक ही सीमित न रहकर जीवन तथा उसकी समस्याओं के साथ घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध होना चाहिए। इसे जीवन के द्वारा पोषित होना चाहिए और बदले में इसे भी जीवन को पुष्ट करना चाहिए। गीता के आगामी श्लोकों में इसी दर्शन की अभिव्यक्ति होगी। ❖ (क्रमशः) ❖

आओ घर बनाएँ

भैरवदत्त उपाध्याय

मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं में एक घर भी है। जब रोटी-कपड़े की समस्याओं से अवकाश मिलता है, तब वह इस तीसरी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास करता है। वह मात्र उसकी वैयक्तिक आवश्यकता ही नहीं है, अपितु सामाजिक अनिवार्यता के कारण भी वह घर बनाने की सोचता है। यों तो हर जीवधारी अपनी रक्षा के हेतु शरण की खोज करता है और उसे पाकर जीवन-यात्रा को विश्राम देता है। नभचारी पक्षियों तथा वनचारी पशुओं को भी जब अपने बसेरे की याद आती है, तो मनुष्य की तो बात ही क्या? उसके लिये 'घर' का अर्थ केवल ईंट-गारे से बनी दीवालों की भौतिक संरचना मात्र नहीं, अपितु यह एक ऐसा शब्द है, जो अपने आप में गूढ़ अर्थ तथा व्यापक परिभाषा समेटे हुए है। घर का नाम सुनते ही मन में सहसा एक ऐसा दृश्य झलक उठता है, जिसमें सुन्दर पत्नी तथा मासूम बच्चों के अलावा माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची तथा दादा-दादी सहित ढेर सारे लोग जुड़े होते हैं, जिनसे हमारा खून का रिश्ता और आत्मिक सम्बन्ध होता है।

अँग्रेजी के होम, हाउस और क्वार्टर शब्दों में वह व्यापकता नहीं, जो घर में है। संस्कृत के आवास, वेश्म, भवन, मन्दिर, सदन, हर्म्य, सौध, प्रासाद, उटज, कुटीर, अट्टक और अट्टालिका आदि शब्दों में भी वह भाव नहीं है। 'गृह' की भाव-प्रवणता के कारण ही घर को नहीं बल्कि गृहिणी को घर कहते हैं। गृहिणी के बिना घर जंगल से भी अधिक डरावना है –

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते ।।

भारतीय घर हमारी संस्कृति के अनुरूप संस्कारों में ढले होते हैं। हमारे मनीषियों ने घर को न केवल परिभाषित किया है, अपितु घर के प्रत्येक सदस्य के कर्त्तव्य, व्यवहार, आदर्श तथा गुण-धर्म भी निर्धारित कर दिये। यही कारण है कि सारा विश्व भारतीय घर को आदर्श एवं सर्वश्रेष्ठ मानता है। पुरातन साहित्य से हमें जो घर की कल्पना मिलती है, उससे हमारे अर्वाचीन घरो में सामंजस्य अवश्य दिखता है। आज भी हमारे घरों में वे ही आदर्श हैं, जो पुरातन काल में प्रतिष्ठित थे। यह बात और है कि समय की झंझाओं ने उसकी नींव को हिलाने की चेष्टा की है, पर हमारी आकांक्षाएँ वहीं हैं, जो पहले थीं।

भारतीय घर इकाइयों का जोड़ या भानुमति का कुनबा नहीं होता। वह सजीव, गतिशील, भावप्रधान तथा संवेदनशील आत्मीय जनों की एक समग्र इकाई और समाजिक प्रसाद की नींव है। किसी भी पैमाने से घर की नींव की गहराई को नापना सम्भव नहीं है, क्योंकि इसकी जड़ें वैदिक काल तक जाती हैं, जिसका पोषण हमारी प्रथाएँ परम्पराएँ करतो है।

वह घर घर नहीं जहाँ साधु, चिन्तक, मनिषी और अतिथियों का आगमन न हो; उनके चरणकमलों की रज से जो घर पवित्र हो चुका है, वही भवन है, नहीं तो उसका भकार लुप्त हो जाता है, अर्थात् वह भवन केवल वन के समान है –

यन्मनीषि-पदाम्भोज-रजःकण-पवित्रम्।
तदेव भवनं नो चेद् भकारस्तत्र लुप्यते ।।

घर मनुष्य की मात्र भौतिक ही नहीं, वरन् उसकी सामाजिक, आत्मिक और मानसिक आवश्यकता भी है। बाहर से आये अशान्त व्यक्ति को घर में शान्ति मिलती है। जर्मन कवि गेटे ने लिखा है, "चाहे राजा हो या किसान, वह मनुष्य है सबसे भाग्यवान, जिसे अपने घर में शान्ति मिलती है।" घर संस्कारों का केन्द्र है। समाज की प्राथमिक पाठशाला है। व्यक्ति का बीमा है। जब से सभ्यता के विकास का दौर शुरू हुआ है, तभी से मनुष्य घर को सजाने-सँवारने में लगा है। उसने आज तक घर को न जाने कितने आकार दिये हैं। चूना और रंग-रोगन पोतकर आकृतियों और अनुकृतियों को लिखकर भित्ति तथा भूमि को जीवन्त बनाने का प्रयास किया है। अल्पनाओं और रंगोलियों से घर को सुन्दर तथा मांगलिक स्वरूप देकर सुरुचि एवं हृदय की विशदता का परिचय दिया है, तुलसी एवं शालिग्राम की स्थापना कर पवित्रता प्रदान की है। अन्तरतम प्रदेशों को अकल्पनीय सज्जा से मण्डित किया है। अधुनातन मानव न जाने कितनी डिजाइनों में उसे ढाल रहा है। फ्रीज, टी.वी., रेडियो, टेपडेक, सोफासेट, डायनिंग सेट और अनगिनत कलात्मक उपादानों से घर को घर जैसा बनाने में लगा है, पर इसके बावजूद वास्तविक घर पीछे ही छूट रहा है।

अब घर घर जैसा नहीं, संग्रहालय का कोई हिस्सा प्रतीत होता है, क्योंकि अब घर के आँगन में ननद-भाभी और देवर-भाभी की ठिठोलियाँ नहीं हैं, दादी-नानी की कहानियाँ नही हैं और माँ लोरी नहीं सुनाती, भाई भाई का आत्मिक स्नेह नही रहा, कुटुम्ब के प्रति त्याग और कर्त्तव्य की निष्ठा नहीं रही, अतिथि अब देवता नहीं है, मनीषियो का आगमन नहीं होता, पति-पत्नी के सम्बन्ध भी मात्र औपचारिक हैं। घर का हर व्यक्ति मात्र अब एक वस्तु है, जो आवश्यकता के कारण भीड़ के रूप में साथ है। घर क्लब में तब्दील हो चुका है। अब घर की पुरातन कल्पनाएँ निःशेष हैं। शहरों मे तो अब भौतिक घरों की कल्पना भी दूभर है। लाखो लोग फुटपाथो, रेल के डिब्बों तथा होटलों में सोते हैं। घर अब पूर्ण बिखराव की ओर अग्रसर है। क्या हम इसे रोकने का कुछ सार्थक प्रयास करेगे, ताकि कल आनेवाली पीढ़ी को कुछ उत्तर दे सके? तो आइये अपना घर बनायें, उसे सही बुनियादों पर बिठायें। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की मनुष्य-निर्मात्री शिक्षा

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(६ अक्तूबर, २००१ को विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति अयोजित स्वामी आत्मानन्द व्याख्यानमाला के अन्तर्गत इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्राध्यापिका डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा ने एक विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया, प्रस्तुत लेख उसी का एक अविकल अनुलिखन है। टेप पर से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने सम्पन्न किया है। – सं.)

आज की परिचर्चा का समारम्भ 'स्वामी विवेकानन्द द्वारा सुझाई गई मनुष्य-निर्माणकारी शिक्षा' विषय से हो रहा है। जहाँ तक आँकड़ों का प्रश्न है, हम आज पहले से अधिक शिक्षित हैं। शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी बढ़ा है। जिन अंचलों में शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी, वहाँ शिक्षा की व्यवस्था हुई है। प्रतिदिन ही अनेक स्कूल-कॉलेज खुल रहे हैं और प्राथमिक स्तर से उच्च शिक्षा तक की सुविधाएँ और अवसर लोगों को उपलब्ध कराये जा रहे हैं। लेकिन जो एक चिन्तनीय विषय है – वह यह है कि शिक्षा के इस बढ़ते प्रचार-प्रसार के बावजूद, हमारे समाज में जिस प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन होना चाहिये था, जिस प्रकार का विकास होना चाहिये था, वह नहीं हो रहा है। कई बार तो ऐसा लगता है कि हम संस्कृत होने के बजाय असंस्कृत हो रहे हैं और पीछे की ओर चल रहे हैं। आज समाज में जिस प्रकार जीवन के सुन्दर और उदात्त मूल्यों का ह्रास हो रहा है, नैतिक मूल्यों में कमी आ रही है, समाज जिस प्रकार उच्छृंखल हो रहा है, जो भ्रष्टाचार का बोलबाला दिखाई देता है, अपराध और हिंसा की वृत्ति दिखाई देती है, स्वार्थ का जो नग्न नृत्य दिखाई देता है – यह सब देखकर जो सहज प्रश्न मन में उठता है कि क्या हम सही दिशा में जा रहे हैं? और बड़ा आवश्यक हो गया है कि अब इस देश के प्रबुद्ध व्यक्ति मिलकर बैठें और सोचें कि हमारी शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिये?

प्रत्येक मनुष्य जब जन्म लेता है, तो किसी विकृति के साथ जन्म नहीं लेता। उसमें अनन्त सम्भावनाएँ होती हैं, अनन्त प्रतिभाएँ होती है। किस प्रकार उसे एक दिशा दी जाय, किस प्रकार से उसे सकारात्मक दिशा की ओर ले जाया जाय – इसका उत्तरदायित्व शिक्षा पर होता है। आज जो समाज और व्यक्ति की स्थिति है, उसे देखकर लगता है कि समाज के निर्माण में शिक्षा की जो रचनात्मक भूमिका होनी चाहिए, वह उसे नहीं निभा रहा है। इसलिए आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व इस देश को अपने युगान्तरकारी चिन्तन के द्वारा दिशा प्रदान करनेवाले स्वामी विवेकानन्द के विचारों पर हम एक बार पुन: चिन्तन करे और यथासम्भव उनसे लाभ उठायें।

स्वामीजी की शिक्षा-विषयक जो अवधारणा है, उस पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। उसका एक सैद्धान्तिक तथा भावनात्मक पक्ष है और उसका एक व्यवहारिक पक्ष भी है। दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर उनकी धारणा सुस्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है। उनकी शिक्षा-नीति पर विचार करते समय इस विषय को यदि हम इन तीन वर्गों के अन्तर्गत बाँटकर विचार करें, तो सहूलियत होगी – (१) शिक्षा का प्रयोजन क्या है? (२) शिक्षा का स्वरूप क्या है? और (३) शिक्षा का विषय क्या है?

सबसे पहली बात है कि शिक्षा का प्रयोजन क्या है? इस प्रकार विचार करना आवश्यक है। स्वामीजी की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन है – मनुष्य की पूर्णता की अभिव्यक्ति। वे कहते हैं – Education is the manifestation of perfection already in man. व्यक्ति के भीतर जो उदात्तता निहित है, जो पूर्णता निहित है, उसे प्रकट करने में जो सहायक हो, वही शिक्षा है। अब प्रश्न उठता है कि यह पूर्णता क्या है? यह पूर्णता किसी प्रकार की प्रतिभा नहीं है, न ही यह किसी प्रकार की दक्षता है। यह पूर्णता व्यक्ति का अपना स्वभाव है, अपना स्वरूप है। व्यक्ति का स्वरूप यह है कि वह ईश्वर का अंश है। वह स्वभाव में ईश्वर जैसा ही है। उसकी यह जो दिव्यता है, उसकी यह जो Inherent Divinity है – इस दिव्यता का, इस आत्मरूपता का प्रकाशन ही शिक्षा का उद्देश्य है। मनुष्य का व्यक्तित्व चेतना के प्रत्येक स्तर पर विकसित हो सके, चाहे वह शारीरिक स्तर पर हो या बौद्धिक या आध्यात्मिक स्तर पर। इन तीनों स्तरों पर उसके व्यक्तित्व में कहीं कोई गाँठ न हो। उसके व्यक्तित्व में एकरूपता हो, समरसता हो और वह अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से किये जानेवाले विभिन्न कार्यों को कुशलता से कर सके, यही शिक्षा का प्रयोजन है। इसलिए स्वामीजी कहते हैं कि मनुष्य की दिव्यता या पूर्णता या आत्मरूपता के प्रकाशन का यह अर्थ नहीं है कि उसके व्यक्तित्व के जो अन्य भौतिक पक्ष हैं, उनकी उपेक्षा की जाय। इसी कारण स्वामीजी शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षण के प्रति भी बड़े सजग थे। वे प्राय: ही कहते थे – **नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:** – जो शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ है, बलशाली है, वही साधना करने में समर्थ हो सकता है। चाहे वह साधना अध्यात्म की हो, या फिर जीवन के विभिन्न पक्षों में विभिन्न उपलब्धियों के लिए किया जानेवाला संघर्ष हो। शारीरिक स्वास्थ्य के बाद आता है बुद्धि का विकास। बुद्धि का विकास सही दिशा में हो, जिससे व्यक्ति अपनी प्रतिभा तथा सामर्थ्य का पूर्णतया उपयोग कर सके और उसके बाद व्यक्ति की अपनी आध्यात्मिक पहचान – मैं शरीर नहीं हूँ, मैं इन्द्रियाँ

नहीं हूँ, मैं बुद्धि नहीं हूँ, मैं मन और अहंकार नहीं हूँ, मैं इन सबके परे शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मतत्त्व हूँ – हर व्यक्ति को इस आध्यात्मिकता का अनुभव होना चाहिए, ऐसा स्वामीजी मानते थे। जब इस प्रकार की आध्यात्मिकता का अनुभव होता है, तो व्यक्ति के भीतर एक ऊर्जा उत्पन्न होती है, उसमें एक अद्‌भुत सामर्थ्य उत्पन्न होती है, उसे अपनी शक्ति का अनुभव होता है, उसके भीतर से दैन्य और कायरता जैसे दोष दूर हो जाते हैं और वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रतिहत गति से, अबाध गति से आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार शिक्षा का प्रयोजन यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में चारों पुरुषार्थों का भलिभाँति रूपायन कर सके। चाहे वह अर्थ हो, या धर्म हो, या काम हो, या मोक्ष हो। अत: इस पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिये जमीन तैयार करना, भूमिका प्रस्तुत करना, यही शिक्षा का प्रयोजन है – ऐसा स्वामीजी मानते हैं।

वे शिक्षा की जिन पद्धतियों को भारत के लिये उपयुक्त समझते थे, उन्हें यदि हम विश्लेषित करें, तो फिर कई बातें हमारे सामने आती हैं। (क) उस शिक्षा का आधार क्या हो? (ख) उस शिक्षा की संरचना क्या हो? स्वामीजी ने शिक्षा को धर्म से जोड़कर देखा। इसलिए उनकी दृष्टि में धर्म और शिक्षा दो भिन्न चीजें नहीं हैं और जो उद्देश्य धर्म का है, वही उद्देश्य शिक्षा का भी होना चाहिए। धर्म से स्वामीजी का तात्पर्य यह नहीं था कि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के मतानुसार शिक्षा दी जाय, किसी विशेष पूजन-पद्धति के द्वारा, किसी विशेष उपासना के द्वारा या चिन्तन के किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के द्वारा शिक्षा दी जाय – ऐसा उनका भाव नहीं था। धर्म का जो वास्तविक अर्थ है, वह यह नहीं है, क्योंकि यह सारा अभिचार या कर्मकाण्ड, ये सारे मत-मतान्तर, ये तो धर्म के एक अंग मात्र हैं, धर्म के अंश मात्र हैं। यह धर्म का कलेवर है, धर्म की आत्मा नहीं है। धर्म की आत्मा तो वे शाश्वत जीवन-मूल्य हैं, जो व्यक्ति की आत्मा को सार्थकता प्रदान करते हैं और उसे अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा के समायोजन में शक्ति देते हैं, दिशा देते हैं, मार्ग-निर्देशन देते हैं। धर्म कुछ ऐसे नियम हैं, जिनका पालन करके व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने उत्कर्ष की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को उपस्थित कर सकता है, उनका रूपायन कर सकता है। इसीलिये हमारे यहाँ जब चार पुरुषार्थों की बात की जाती है, तो सर्वप्रथम उनमें धर्म आता है। धर्मपूर्वक अर्थ, धर्मपूर्वक काम – इस प्रकार आचरण होना चाहिए। यदि अर्थ, धर्म से रहित हो गया, तो उस प्रकार की डकैतियाँ और लूट-पाट होने लगती हैं, जैसी आज हमारे समाज में हो रही हैं। अगर काम, धर्म से रहित हो जाय, तो उस तरह का अनाचार या भ्रष्टाचार दिखने लगता है, जैसा आज हमारे यहाँ हो रहा है। तो धर्म का बहुत अधिक महत्त्व है। स्वामीजी की दृष्टि में धर्म का अर्थ है आध्यात्मिकता। धर्म का अर्थ है वेदान्त। उपनिषदों में प्रतिपादित जो एक तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के रूप में व्यक्त हो रहा है, वही मैं हूँ, वही आप हैं, यह सारी सृष्टि भी वही है – इस तत्त्व की अनुभूति ही धर्म है।

यह जो आध्यात्मिक प्रवणता है, यह जो आध्यात्मिकता है – यही धर्म है। इस आध्यात्मिकता की अनुभूति ही धर्म का प्रयोजन है, धर्म का लक्ष्य है। इसलिए स्वामीजी ने शिक्षा को धर्म में रोपा। शिक्षा का जो उत्स है, शिक्षा की जो प्रेरणा है, वह धर्मपूर्वक होनी चाहिए। धर्म का कार्य है – चरित्र-निर्माण। इसलिए स्वामीजी की जो शिक्षा-पद्धति है, वह कहलाती है – Man-making, Nation-building-Education. क्या अथ है इस Man-making (मनुष्य-निर्मात्री) और Nation-building Education (राष्ट्र-निर्मात्री शिक्षा) का? – ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति के चरित्र का विकास करे, ऐसी शिक्षा जो उसके दोषों को दूर करे, उसके दोषों का परिमार्जन करे और उसमें सद्‌गुणों का, सकारात्मक मूल्यों का आधान करे; उसे नैतिक मूल्य दे, उसे सामाजिक मूल्य दे, उसे धार्मिक मूल्य दे, उसे आध्यात्मिक मूल्य दे; उसके चरित्र में जितनी कमियाँ हैं, उन्हें दूर करके, उसे परिष्कृत करने का कार्य करे – धर्म का यही कार्य है और यही कार्य शिक्षा का भी है। अत: स्वामीजी ने शिक्षा और धर्म – इन दोनों को विपरीत ध्रुव नहीं माना, जैसा कि आज समझा जा रहा है, धर्म के इस स्वरूप को ही अप-व्याख्यायित किया जा रहा है और इसकी वजह से समाज में कई विकृतियाँ आ रही हैं। परन्तु स्वामीजी ने यह अनुभव किया कि धर्म से विरहित शिक्षा का व्यक्ति के ऊपर सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये स्वामीजी ने अपने विद्यार्थियों के लिये जिन मूल्यों की, जिस चरित्र की आवश्यकता बताई, वे थे – श्रद्धा, विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा और ब्रह्मचर्य। ये सारे जो जीवन-मूल्य हैं, इनमें से ब्रह्मचर्य का अर्थ है कामनाओं, वासनाओं तथा इच्छाओं का संयम। और इस ब्रह्मचर्य-पालन के फलस्वरूप ही चित्त का एकाग्रीकरण या उसे किसी विषय में लगाना सम्भव हो सकता है। और श्रद्धा! श्रद्धा वह मूलभूत पाथेय है, जिसको लेकर व्यक्ति अपने जीवन में चलता है। गुरु के वाक्यों में श्रद्धा, शास्त्र के वाक्यों में श्रद्धा, सत्पुरुषों के वाक्यों में श्रद्धा; यह श्रद्धा व्यक्ति को एक सम्बल देती है। उसमें साहस को जन्म देती है। साहस एक अद्‌भुत नैतिक गुण है, जिसे अँग्रजी में Courage कहते हैं। यह जो साहस है, यह एक मानसिक धर्म है, जो न केवल व्यक्ति को बाहरी विषम परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में सहायक होता है, अपितु स्वयं अपनी कमियों और अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने में भी सहायक होता है। यह श्रद्धा, यह साहस, सत्य के प्रति एकनिष्ठा, आत्मसंयम – ये सारे गुण यदि व्यक्ति के अन्दर शिक्षा विकसित नही करती,

तो वह शिक्षा व्यर्थ है। जीवन के भीतर किसी सार्थकता को लाना, उसका प्रयोजन कदापि नहीं हो सकता।

एक बात और स्वामीजी ने कही, जो शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है और उसके बड़े दूरगामी गहरे मनोवैज्ञानिक अर्थ हैं। उन्होंने कहा कि शिक्षा दी नहीं जा सकती। जानने की प्रक्रिया में व्यक्ति कोई नई चीज नहीं जानता, बल्कि वह आविष्कार करता है। सारा ज्ञान व्यक्ति के अपने भीतर स्थित होता है। अध्यापक, पुस्तक और विषय उसका आलम्बन बनते हैं यानी इनकी सहायता से वह उस ज्ञान को अपने भीतर अनुभव कर पाता है। एक छोटा-सा उदाहरण लें – किसी व्यक्ति को देखकर आपके मन में स्नेह उमड़ता है, किसी को देखकर आपके मन में श्रद्धा जागती है और किसी को देखकर आपके मन में द्वेष भी उत्पन्न होता है। अब यह स्नेह, श्रद्धा तथा द्वेष आपकी अपनी संरचना का विषय है, ये आपके भीतर हैं, ये आपके बाहर कभी नहीं हैं। लेकिन सामने उपस्थित व्यक्ति इसका उद्दीपक बन जाता है, इनका आलम्बन बन जाता है और उसके सहारे ये मनोभाव आपके भीतर व्यक्त हो जाते हैं; जो आपके भीतर सुप्त रूप से मौजूद थे, विद्यमान थे। स्वामीजी कहते हैं कि ठीक वैसे ही सारा ज्ञान आपके अपने भीतर है, वह केवल व्यक्त होता है और शिक्षा उसी को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है, जो वह चरित्र-निर्माण के द्वारा सम्पन्न करती है। इसीलिए स्वामीजी ने गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को जो व्याख्यायित किया, वह कुछ इस प्रकार से किया। जैसे हम किसी पौधे को रोपते हैं, उसमें पानी देते हैं, खाद देते हैं। यदि वह ज्यादा सुकोमल है, तो उसके ऊपर छाया कर देते हैं। कोई उसे चोट न पहुँचाये, इसलिए हम उसके चारों ओर एक बाड़ बना देते हैं। लेकिन उस पौधे का विकास उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति संरचना और प्रकृति के अनुसार ही होता है। उसे जितना बढ़ना होगा, जैसा बढ़ना होगा, वह वैसा ही बढ़ेगा। इस प्रकार हम किसी भी विद्यार्थी को इस प्रकार का चरित्र दे सकते हैं, इस तरह का वातावरण दे सकते हैं कि वह अपनी विकास-यात्रा जल्दी-से-जल्दी और सरलतापूर्वक पूरी कर ले। हम केवल उस विद्या की अभिव्यक्ति के लिये एक परिवेश तैयार कर सकते हैं। इससे अधिक हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है। यदि हमने वह वातावरण अपने बच्चों को दिया, अपने छात्रों को दिया, तो वह स्वयं अपने भीतर के ज्ञान का आविष्कार कर लेगा। यह बात सुनने में थोड़ी-सी अव्यावहारिक लग सकती है, पर यह एक सच्ची बात है।

स्वामीजी जब कहते हैं कि शिक्षा या शिक्षण-पद्धति एक सहायिका है, अनुकूल वातावरण दिये जाने पर व्यक्ति अपने भीतर के ज्ञान को आविष्कृत करता है; तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शिक्षा एक आन्तरिक, एक अन्तरंग प्रक्रिया है। वह शिक्षार्थी के अन्दर घटती है। जो उसके अन्दर घटती है, वह उसके अपने स्वरूप का एक हिस्सा होती है। आज हमारी शिक्षण-पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह पूरी तौर से एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका व्यक्ति के अन्तःकरण से कुछ भी लेना-देना नहीं है। हम इसे एक कोट की तरह पहन सकते हैं और एक कोट की तरह उतारकर रख सकते हैं। यह हमारे जीवन में, हमारे भीतर हमारे मन में, किसी प्रकार का कोई परिवर्तन और सुधार नहीं ला सकती, क्योंकि यह हमारी मानसिक प्रक्रिया का अंग नहीं है। यह शिक्षा हमारे भीतर घटती नहीं है, यह हमारे स्वरूप का हिस्सा नहीं बनती। स्वामीजी के शब्दों में – वह केवल जानकारियों के स्तर पर आकर रुक जाती है। इसलिए इतना पढ़-लिखकर भी, शिक्षा के इतने अवसर लेकर भी, यदि व्यक्ति और समाज के भीतर कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो पा रहा है, तो इसका कारण केवल यह है कि आज शिक्षा एक बाहरी व्यवस्था हो गयी है। वह आन्तरिक प्रक्रिया नहीं है। इसलिए इसके द्वारा व्यक्ति के चरित्र में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो पाता। शिक्षा के लिये हमारी अर्हता इतनी है कि हमने आठवी की परीक्षा पास कर ली है। किसी भी तरह, चाहे नकल करके किया हो, या रटकर किया हो, हमें नवीं में प्रवेश मिल जायेगा। यदि हमने बी.ए. कर लिया, तो हम एम.ए. करेंगे ही और यदि एम.ए. कर लिया है, तो रिसर्च करेंगे ही। क्यों करेंगे? कभी भी कोई व्यक्ति रुककर यह सवाल नहीं करता कि हम जिस दिशा में जा रहे हैं, क्या यह दिशा हमारी है?

पुरखों की थाती (५)

आचार्यात्पादम् आदत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया ।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण च ।।

– छात्र विद्या का चतुर्थांश शिक्षक से ग्रहण करता है; चौथाई अंश अपनी बुद्धि से सीखता है, चौथाई भाग अपने सहपाठियों से जान लेता है और बाकी चौथाई भाग समय आने पर स्वतः ही उद्भासित हो उठता है।

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
परं तत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसानिव्।।

– जैसे करछुल सभी प्रकार के व्यंजनों में डूबी रहने के बावजूद उनके स्वादों से वंचित रह जाती है, वैसे ही विद्वान् लोग चारों वेदों तथा असंख्य शास्त्रों को पढ़कर भी सर्वोच्च ब्रह्म तत्त्व से अनभिज्ञ ही रह जाते हैं।

हमारी प्राचीन शिक्षण-पद्धति में अधिकारी-भेद का बहुत अधिक महत्त्व था। हर व्यक्ति हर तरह की शिक्षा के अनुकूल नहीं होता। हो सकता है कोई व्यक्ति बहुत अच्छा चित्रकार हो सकता है, अध्यापक हो सकता है, गायक हो सकता है, सम्भव है कोई व्यक्ति सैनिक बन सकता है, परन्तु हमने उस अधिकारी भेद की सर्वथा उपेक्षा कर दी। आज हमने 'सब धान बाइस पसेरी' की तरह एक पाठ्यक्रम बना दिया है और हर व्यक्ति आज उसके अनुसार पढ़ रहा है, चाहे वह शिक्षा उसके मन के आन्तरिक वातावरण के लिए अनुकूल है या नहीं, इस पर कोई विचार नहीं करता।

आखिरी बात जो मुझे कहनी है वह यह है कि स्वामीजी की शिक्षा-पद्धति का कई प्रकार से विश्लेषण किया जा सकता है। व्यवहारिक दृष्टि से यह विश्लेषण एक प्रकार का होगा और तात्त्विक दृष्टि से वह बिल्कुल अलग प्रकार का। तात्त्विक दृष्टि से वे केवल अद्वैत और अध्यात्म की शिक्षा देते हैं। व्यावहारिक स्तर पर, सामाजिक जीवन के स्तर पर भी स्वामीजी ने बड़ी विस्तृत शिक्षा-योजना दी है। व्यक्ति को क्या पढ़ना चाहिये, क्या नहीं पढ़ना चाहिये और अन्त में उन्होंने कहा कि यदि व्यक्ति को सर्वांग सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है, तो इसके लिये आवश्यक है कि उसके विषयों को इस प्रकार से बाँटा जाय कि मनुष्य की बुद्धि द्वारा स्पर्श किये जानेवाले जीवन के सारे पक्ष उसमें आ जायँ। साहित्य के एक वर्ग को वे अँग्रेजी में Classics कहते हैं, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को भारत के शाश्वत् चिन्तन-मूल्यों का परिचय करानेवाले वेद, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थ आते हैं। दूसरे वर्ग में विज्ञान आता है। तीसरा वर्ग तकनीकी का है, चौथे वर्ग में साहित्यिक विषय हैं और पाँचवा वर्ग ललित कलाओं का है, क्योंकि स्वामीजी मानते हैं कि ललित कलाओं के बिना व्यक्ति में कोमलता तथा संवेदना के स्तर पर, वह परिष्कृति तथा सुरुचि उत्पन्न नहीं हो पाती, जो उसे एक अच्छा इन्सान बना दे।

स्वामीजी की शिक्षा के जो व्यावहारिक पक्ष हैं, उस पर मुझे ज्यादा कुछ नहीं कहना है। आखिरी बात कहकर अब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगी। सामान्यत: आजकल के लोगों को यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि शिक्षा का अध्यात्म से भी कुछ लेना-देना है। सामाजिक विज्ञानों को पढ़ने के लिये क्या आवश्यक है कि हमें अपनी आत्मरूपता का ज्ञान हो? जब स्वामीजी कहते हैं कि व्यक्ति में अन्तर्निहित दिव्यता और पूर्णता का प्रकाशन ही शिक्षा का उद्देश्य है, उस समय वे इतनी गहरी बात कह रहे होते हैं कि जिसके सामाजिक प्रभाव अद्भुत रूप से दूरगामी हैं। जिस समय व्यक्ति को अनुभव होता है कि मैं केवल शरीर, केवल मन, केवल इन्द्रिय, या केवल बुद्धि नहीं हूँ। मेरा संसार केवल सम्बन्धों का संसार नहीं है। मैं इन सभी मर्यादाओं के बाहर, इन सीमाओं के परे, मैं एक शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मतत्त्व हूँ। उसे ऐसा अनुभव होने पर दो क्रान्तियाँ घटती हैं। एक वैचारिक क्रान्ति, जो व्यष्टि के स्तर पर घटती है और दूसरी वैचारिक क्रान्ति जो समष्टि के स्तर पर घटती है, यानी व्यक्ति के स्तर पर भी कुछ परिवर्तन होता है और समाज के स्तर पर भी परिवर्तन होता है। जब व्यक्ति अपनी दिव्यता का अनुभव करता है, जब वह अपने भौतिक व्यक्तित्व की सीमाओं से आजाद होता है, तब उसके अन्दर जो क्रान्ति घटती है, वह उसे अनासक्त तथा अपराजेय बना देती है। व्यक्ति जब भी हारता है, आसक्ति के कारण हारता है, व्यक्ति सदैव अपने कारण हारता है, क्योंकि पराजय एक मन:स्थिति है, इसकी कोई अपनी स्थिति नहीं है। सम्पूर्ण गीता का सारांश केवल इतना ही है कि अनासक्त व्यक्ति ही विजयी होता है। वह व्यक्ति के स्तर पर अनासक्त होता है और समाज के स्तर पर शिव-स्वरूप हो जाता है। हमारी सारी कामनाएँ, सारी इच्छाएँ और सारे स्वार्थ कहाँ से उत्पन्न होते हैं? ये हमारे इस भौतिक व्यक्तित्व की देन हैं और इसी के क्षेत्र में रहते हैं। जब हम यह अनुभव कर लेते हैं कि मैं कोई भौतिक पदार्थ नहीं हूँ, मैं सम्बन्धातीत हूँ, मैं दिव्य हूँ, तब हमारी भौतिक इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और वासनाएँ बहुत संयमित एवं नियंत्रित हो जाती हैं, बहुत कम हो जाती हैं। तब हम दूसरों के लिये जीना शुरू कर देते हैं, क्योंकि हमें यह बोध हो जाता है कि जो मैं हूँ, वही ईश्वर है और वही विश्व है। जो मैं हूँ, वही तुम हो। एक बड़ा सुन्दर शेर है –

वजहे बेगानगी नहीं मालूम,
तुम जहाँ के, वहीं के हम भी हैं।

क्यों हम इतने अपने पराये में बँट गये? दरअसल तो तुम जो हो वही मैं भी हूँ। जब व्यक्ति संवेदना के स्तर पर ऐसा अनुभव कर लेता है, तो उसके द्वारा किसी का अहित सम्भव नहीं है। फिर समाज में जो हिंसा है, जो भ्रष्टाचार है, जो अपराध है, जो उत्पीड़न है, ये सब स्वत: समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भावनात्मक स्तर पर वैश्विक एकता का अनुभव कर लेता है। इसलिये स्वामीजी ने कहा कि यदि शिक्षा व्यक्ति की अपनी आध्यात्मिकता का अनुभव नहीं दे रही है, यदि इसका पर्यवसान अपनी पूर्णता की पहचान में नहीं है, तो वह शिक्षा व्यर्थ है।

आज हम जिस संकट और संक्रमण के काल से गुजर रहे हैं, जहाँ अस्तित्व का संकट है, जीवन-मूल्यों का संकट है, अपनी पहचान का संकट है, वहाँ यह बहुत आवश्यक है कि एक बार हम स्वयं को जानने के लिए, अपने राष्ट्र को जानने के लिए स्वामीजी के विचारों का मन्थन करें और उससे जो अमृत निकले, उसे अपनी नई पीढ़ियों को वितरित करें और इस प्रकार हम उनके व्यक्तित्व को एक सार्थक और सकारात्मक दिशा देने में समर्थ हो सकें। ❑❑❑

जहाँ रोगी को नारायण मानकर पूजा जाता है –

वृन्दावन का रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

गोपाल चतुर्वेदी, वरिष्ठ पत्रकार

भगवान श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के दर्शन तथा सिद्धान्तों से अनुप्राणित एवं जन-सामान्य की सेवा को ईश्वर-पूजा माननेवाली देश की अत्यन्त प्रतिष्ठित समाजसेवी संस्था रामकृष्ण मिशन (बेलूड़ मठ) ने उत्तर प्रदेश के श्री वृन्दावन धाम (मथुरा) में अपने चिकित्सकीय सेवा-कार्यों की शुरुआत सन् १९०७ में वंशीवट स्थित 'कालाबाबू कुंज' में रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम नामक एक छोटा-सा नि:शुल्क होम्योपैथिक औषधालय खोल कर की थी। सन् १९०८ में यहाँ ४ शय्याओं वाला एलोपैथिक अस्पताल भी खुल गया। रोगियों के प्रति उत्कट सेवा-भावना होने के कारण यह संस्था शनैः शनैः प्रगति-पथ पर अग्रसर होती रही। प्रारम्भिक दिनों में अस्पताल के कर्मी 'स्ट्रेचर' लिए सारे वृन्दावन में इस फिराक में घुमते रहते थे कि उन्हें कब कोई बीमार व्यक्ति मिले और वे उसे अपने अस्पताल में ले जाकर उसका इलाज कराएँ।

अब मथुरा रोड पर कई एकड़ के परिसर में सुरम्य हरीतिमा एवं असंख्य वृक्षावलियों के बीच १५१ शय्याओं वाले अत्याधुनिक अस्पताल का निर्माण कराकर यह संस्था एक विशाल वट-वृक्ष का रूप धारण कर चुकी है। यहाँ आपातकालीन विभाग एवं बाह्य रोगी-विभाग दोनों ही हैं। इसके अलावा यहाँ जनरल सर्जरी, नाक-कान-गला चिकित्सा, अस्थि-चिकित्सा, दन्त-चिकित्सा, मनो-चिकित्सा, स्नायु-चिकित्सा तथा फिजियो-एलेक्ट्रो-थेरेपी आदि की विशेष सुविधाएँ उपलब्ध हैं। मुम्बई-निवासी सेठ श्री मानिकलाल चिनाई के आर्थिक सहयोग से सन् १९६९ से ही यहाँ ८ शय्याओं का एक कैंसर वार्ड भी चलाया जा रहा है। सेवाश्रम में एलोपैथिक चिकित्सा के साथ-ही-साथ आयुर्वेदिक एवं होम्योपैथिक चिकित्सा-सुविधाएँ भी हैं। इसके सिवा यहाँ पर एक्सरे, ई.सी.जी., अल्ट्रासाउन्ड तथा पैथॉलॉजी आदि की भी उच्च-स्तरीय व्यवस्था है। अस्पताल में सबके लिए चिकित्सकीय परामर्श नि:शुल्क है। मरीजों से आपरेशनों, एक्सरों, रक्तादि परीक्षणों में तथा वार्डों में रहने हेतु न्यूनतम शुल्क लिया जाता है, किन्तु निर्धन व्यक्तियों के लिए सभी कुछ नि:शुल्क है। सच तो यह है कि यहाँ मरीजों को बेहतरीन चिकित्सा-सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

रोगी को 'नारायण' मानकर उसकी सेवा करनेवाला वृन्दावन का यह रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम चिकित्सकीय सुविधाओं की दृष्टि से यहाँ के सभी सरकारी व गैर-सरकारी अस्पतालों में अव्वल नम्बर पर है। यहाँ के कर्मचारियों की नि:स्वार्थ सेवा-भावना, अनुशासन, कठोर परिश्रम, दायित्वों का ईमानदारी से निर्वाह, मरीजों के साथ मृदुल व्यवहार तथा स्वच्छता आदि सब कुछ प्रशंसनीय हैं। इसी कारण यह संस्था दिन-दूनी, रात-चौगुनी प्रगति करती चली जा रही है। रोगियों के प्रति सेवाश्रम की असीम निष्ठा है। भगवान श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और माँ श्री सारदादेवी के जन्म-दिवस पर, वर्ष में तीन बार यहाँ चन्दन, धूप, पुष्प, मेवा-मिष्ठान आदि के द्वारा ईश्वर की भाँति रोगियों की पूजा की जाती है। साथ ही उन्हें लजीज पकवान भी खिलाये जाते हैं।

सेवाश्रम में कुछ चिकित्सक मासिक वेतन पर हैं। मथुरा-वृन्दावन के प्रख्यात चिकित्सक डॉ. के. गोपाल सरीखे कई चिकित्सक यहाँ अपनी अवैतनिक सेवाएँ भी दे रहे हैं। दिल्ली तथा आगरा तक के कई नामी-गिरामी चिकित्सक पूर्व-निश्चित दिनों व समय पर यहाँ अपनी नि:शुल्क सेवाएँ देने आते हैं। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली के अस्थि-विशेषज्ञ प्रो. पी.पी. कोतवाल इस अस्पताल की कई तरह से काफी मदद कर रहे हैं। मनो-रोगियों का इलाज करने हेतु हर माह के कुछ दिन आगरा के मानसिक अस्पताल की टीम यहाँ आती है, जो दवायें आदि भी नि:शुल्क देती है। जरूरत पड़ने पर यह टीम रोगियों को अपने वाहन से आगरा ले जाकर उनका अच्छे-से-अच्छा नि:शुल्क इलाज करती है। अमेरिका से लौटकर वृन्दावन-वास कर रहे भारतीय मूल के प्रख्यात हृदय-रोग विशेषज्ञ डॉ. रसिक पारीक अपनी सेवाएँ सेवाश्रम को नि:शुल्क देते हैं। मथुरा-रिफायनरी-स्वर्ण जयन्ती अस्पताल के भी कई चिकित्सक यहाँ नि:शुल्क सेवा देने आते हैं।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम विभिन्न ग्राम्य अंचलों में हर सप्ताह सचल चिकित्सा यान भेजकर ग्रामीण रोगियों की भी नि:शुल्क चिकित्सा करता है। इससे प्रत्येक सप्ताह लगभग ४०० मरीज लाभान्वित होते हैं। सेवाश्रम को पिछले दिनों अमेरिका की जितेन्द्र फाउंडेशन नामक प्रख्यात समाज-सेवी संस्था से साढ़े आठ लाख रुपये मूल्य का एक अत्याधुनिक चल-चिकित्सा यान भी प्राप्त हुआ है। इस यान में चिकित्सकों, नर्सों व अन्य स्टाफ के बैठने, काम करने के साथ ही छोटे-मोटे आपरेशन तक करने की भी सुविधा है। सेवाश्रम इस यान के मिल जाने से अब अपनी ग्राम्य चिकित्सकीय सेवाओं का और अधिक विस्तार करेगा।

सेवाश्रम अपने परिसर में एक नर्सिंग स्कूल भी चला रहा है, जिसमें नर्सिंग तथा मिडवायफरी का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। यह स्कूल सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त है।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के सचिव स्वामी सुप्रकाशानन्द जी तथा सह-सचिव स्वामी पररूपानन्द जी इस संस्था के उन्नयन हेतु सतत कुछ-न-कुछ करते रहने को ही अपनी पूजा-उपासना मानते हैं। सेवाश्रम के सभी संन्यासी-ब्रह्मचारी संस्था के संवर्धन हेतु छोटे-से-छोटा काम करने में भी कोई संकोच नहीं करते। प्रातः ३ बजे शय्या त्याग देनेवाले ये महात्मागण बड़े ही अनुशासित ढंग से रात गये तक सेवाश्रम की विभिन्न व्यवस्थाओं को सुचारु रूप से क्रियान्वित कराने एवं रोगियों की अनेकानेक समस्याओं के निराकरण में जुटे दिखाई देते हैं। लगता नहीं कि चौबीसों घण्टे संस्था के विभिन्न दुष्कर तथा पेचीदा कार्यों में खटते रहनेवाले इन कर्मयोगी साधुओं की अपनी कोई निजी जिन्दगी भी है।

सेवाश्रम में बहुत शीघ्र ही नाक-कान-गले के आपरेशन की सुविधा प्रारम्भ होने जा रही है। यहाँ के पैथॉलॉजी विभाग में बहुत शीघ्र ही लगभग दो लाख रुपयों की एक ऐसी मशीन कार्य प्रारम्भ करनेवाली है, जिससे कि रक्तादि की तमाम जाँचों की रिपोर्ट केवल दो मिनट में ही मिल जाया करेगी। अस्पताल परिसर में एक करोड़ रुपयों की लागत के ३० शय्याओं वाले एक अत्याधुनिक मैटरनिटी ब्लाक का निर्माण हो रहा है, जिसके पूरा होते ही महिलाओं की प्रसव विषयक सारी सुविधाएँ यहाँ एक ही स्थान पर प्राप्त होने लगेंगी। यहाँ ब्लड बैंक, इंटेंसिव केयर यूनिट, अत्याधुनिक लाण्ड्री, नवीन आपरेशन थियेटर व वार्ड आदि का निर्माण भी प्रस्तावित है।

वृन्दावन में रामकृष्ण मिशन द्वारा विभिन्न धार्मिक गतिविधियों को संचालित करने के अलावा निःशुल्क पुस्तकालय व वाचनालय भी चलाया जा रहा है, जिसमें कि विभिन्न विषयों की लगभग ८००० पुस्तकें उपलब्ध हैं। मिशन की अपनी निजी गौशाला तथा १० एकड़ कृषियोग्य जमीन है। इसके अलावा मिशन द्वारा वृन्दावन स्थित अपने पुराने भवन में निःशुल्क सन्त-निवास चलाया जा रहा है। मिशन द्वारा बीच बीच में वृन्दावन व उसके निकटवर्ती ग्राम्य-अंचलों में निर्धन बच्चों को उनके पहनने हेतु वस्त्रों का निःशुल्क वितरण किया जाता है, साधु-सेवा की जाती है तथा निर्धनों को आर्थिक सहायता भी दी जाती है। मिशन द्वारा शीघ्र वृद्धाश्रम, अनोपचारिक स्कूल एवं निःशुल्क कम्प्यूटर ट्रेनिंग चलाने की भी योजना है।

('कार्ष्णि-कलाप' मासिक से साभार)
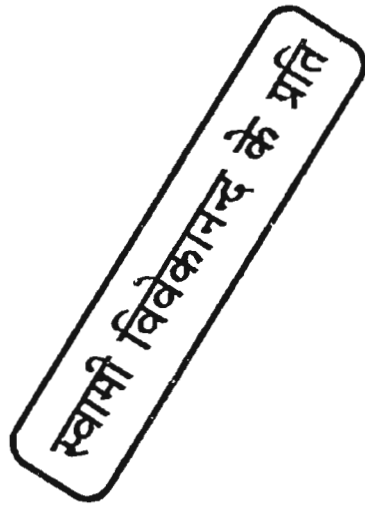
– डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, दिल्ली

नई प्रेरणा दे दी तुमने,
अन्धकार में ज्योति जलाकर,
धन्य धन्य हो गई धरा यह,
तुम-सा कर्मठ योगी पाकर।

जिस समाज में निर्धनता थी
उसको तुमने ललकारा
भेदभाव जो करे व्यवस्था
उसको तुमने धिक्कारा
स्वत्व गँवाकर जहाँ लोग थे
शक्तिहीन निर्जीव बड़े
अपना वैभव भूले-भाले
दैन्य भाव में सुप्त पड़े
प्रसरित किया जागरण जन में,
समता का सन्देश सुनाकर।
नई प्रेरणा दे दी तुमने,
अन्धकार में ज्योति जलाकर।।

ओजस्वी वाणी से तुमने
लोगों को उल्लसित किया
नई उमंगे भरकर उनमें
नया तेज प्रज्वलित किया
भारत के अध्यात्म-ज्ञान को
तुमने अभिनव रूप दिया
बिखरे हुए जनों को तुमने
एक सूत्र में ग्रथित किया
नई दिशा दे दी समाज को,
तुमने सेवा धर्म बताकर।
नई प्रेरणा दे दी तुमने,
अन्धकार में ज्योति जलाकर।।

भारत-नव-जागरण हेतु ऋषि
तुमने बड़ी तपस्या की
'आत्मोद्धार' कर दिया घोषित
सच्ची युक्ति समस्या की
अनुशासन, एकता, संगठन
जन-श्रेयस् सिद्धान्त महान्
लोगों में सौहार्द-वृद्धि से
हो समाज का रूप समान
नव निर्माण-क्रान्ति स्वर गूंजे,
आज तुम्हारा वर पाकर।
नई प्रेरणा दे दी तुमने,
अन्धकार में ज्योति जलाकर।।

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

१४. प्रश्न – *स्वामी विवेकानन्द इस संसार की उपमा कुत्ते की टेढ़ी पूँछ से देते थे और कहते थे कि यह कभी सुधर नहीं सकता। तो फिर आप लोगों द्वारा जो इतने जनहितकर और सुधारक कार्य किये जाते हैं, वे क्या निरर्थक नहीं हैं?*

उत्तर – आपने ठीक ही पढ़ा है। स्वामी विवेकानन्द यह अवश्य कहते थे कि संसार कुत्ते की टेढ़ी पूँछ के समान है और उसे सीधा नहीं किया जा सकता। जब तक पूँछ को दोनों हाथों से पकड़े रहो, तब तक वह सीधी हुई-सी लगती है, पर छोड़ते ही वह पुन: टेढ़ी की टेढ़ी हो जाती है, वैसे ही जब इस धराधाम में महापुरुषों का आगमन होता है, उस समय यह संसार कुछ सीधा हुआ-सा दीखता है, पर उनके जाते ही फिर वैसा ही हो जाता है। यह तो बिलकुल ठीक है। पर स्वामीजी यह भी कहते हैं कि इस अवश्यम्भावी सत्य के कारण हमें हताश नहीं होना है। हमें यह जनहितकर कार्य; दूसरों की नि:स्वार्थ सेवा और देश तथा समाज को ऊपर उठाने का कार्य किये जाना है। क्यों? इसलिए कि यद्यपि पूँछ को सीधा करने के प्रयास में पूँछ सीधी नहीं होती, तथापि हम जरूर सीधे हो जाते हैं। हमारे इन सब कार्यों से भले ही संसार में कोई सुधार न हो, पर हम स्वयं सुधर जाते हैं। यह स्वामी विवेकानन्द की ही वाणी है। अत: ऐसे कार्य निरर्थक नहीं, बल्कि आत्मविकास के लिए परम आवश्यक हैं।

१५. प्रश्न – *ध्यान का अभ्यास करने से ऐसा लगता है मानो चित्त पहले से भी अधिक चंचल हो उठा है। मन में ऐसे भयानक विचार उठते हैं, जिनकी पहले कल्पना तक न थी। ऐसा क्यों होता है? इसे दूर करने का क्या कोई उपाय है?*

उत्तर – यह केवल आप की समस्या नहीं है, वरन् बहुतेरे साधकों की शिकायत है। कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी साधना के प्रारम्भिक दिनो में ऐसा अनुभव करता है। जब हम मन को ध्यान में लगाने के लिए एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं, तब हमें उसके वास्तविक स्वरूप की झलक मिलती है। आम तौर पर हमारा मन सतत विचारों के प्रवाह के समान है। कल्पना कीजिए कि एक धारा बह रही है। ऊपर से हमें उसकी शक्ति का पता नहीं चलता। पर जब हम उस धारा को बाँधने का प्रयास करते हैं, तब उसकी अकल्पित शक्ति प्रकट होती है। बाँध बह जाते हैं और ऐसा लगता है कि धारा में इतनी ताकत होने की कल्पना हमने नहीं की थी। इसी प्रकार, जब हम ध्यान करते हैं तो वह मानो मन को बाँधने के समान है और इस प्रयास में मन अधिक क्षुब्ध हो उठता है। लगता है, मानो वह इतना चंचल कभी न था।

कल्पना कीजिए – एक सरोवर है जिसका जल निर्मल दीखता है। पर उसके तल में इतना कीचड़ जमा हुआ है कि हम एक कंकड़ सरोवर में डालते हैं, तो उतने से ही धीरे धीरे आसपास का पानी गँदला हो जाता है। मान लीजिए हम इस सरोवर से कीचड़ की सफाई करना चाहते हैं। हमने कीचड़ निकालना शुरू किया। पानी गँदला हो जाता है। जैसे जैसे हम कीचड़ निकालते जाते हैं, वैसे वैसे सरोवर का जल अधिकाधिक मटमैला होता जाता है। यदि हम सोचें कि इससे तो पहले ही अच्छा था, जब सरोवर का जल इतना गँदला तो न था, और ऐसा सोचकर कीचड़ निकालना बन्द कर दें, तो धीरे धीरे सरोवर का जल फिर से निर्मल तो हो जाएगा, पर उसकी निर्मलता का कोई तात्पर्य नहीं होगा, क्योंकि एक छोटा-सा कंकड़ उसके तल के कीचड़ को ऊपर कर दे सकता है। पर यदि हमने जल के गँदले होने की परवाह न कर, कीचड़ निकालना जारी रखा, तो एक दिन आयेगा जब सरोवर का सारा कीचड़ साफ हो जायेगा और उसके बाद उसके जल को जो निर्मलता प्राप्त होगी वह यथार्थ की होगी, क्योंकि तब सरोवर में यदि हाथी भी उतर जाये तो जल गँदला न होगा।

हमारा मन भी उसी सरोवर के समान है, जिसके तल में जन्म-जन्मान्तर के गन्दे संस्कार भरे हुए हैं। ऊपर ऊपर से यह निर्मल-सा लगता है पर एक छोटा-सा दृश्य, एक तनिक-सा विचार हमारे मन के कूड़ा-कर्कट को बाहर प्रकट कर देता है। जब ध्यान आदि साधना के सहारे हम मन की इस संचित गन्दगी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, तो सरोवर के जल के समान मन बड़ा गन्दा दिखाई देता है, उसमें भयानक-भयानक विचार उठते हैं। पर हम डरें नहीं। यही समझें कि हम ठीक रास्ते पर हैं। जान ले कि नाली साफ हो रही है। अभ्यास को न त्याग कर, उसको और तीव्र कर दें। धीरे-धीरे हम देखेंगे कि हमारा मन पहले की अपेक्षा अब काफी ठीक हो चला है।

यही उपाय है। हमें अध्यवसाय और धैर्य के साथ इसी के साधन में लगे रहना चाहिए। सफलता अवश्य मिलेगी।

१६. प्रश्न – *लोग कहते हैं कि धर्म मनुष्य को भीरु और कायर बना देता है। आप क्या कहते हैं?*

उत्तर – धर्म के यथार्थ तत्त्व का ज्ञान न होना इसका कारण है। दया व करुणा का पाठ तो पढ़ाने के साथ ही धर्म अन्याय के प्रतिकार की शिक्षा भी देता है। जो अन्यायी हैं, आततायी हैं, वे धर्म की दृष्टि से दण्डनीय हैं। अर्जुन भी धर्म के सम्बन्ध में भ्रमित हुए थे। इसी भ्रम के कारण वे कौरवों को आततायी समझते हुए भी उनसे युद्ध करने में हिचक रहे थे। इस भ्रम से ही उनमें भी भीरुता और कायरता आ गई थी, परन्तु जब कृष्ण उन्हें समझाते हैं, तब अर्जुन अपनी कायरता को दूर करने में समर्थ होते हैं। धर्म बल है, मनुष्य का सम्बल है, वह मनुष्य को दिशा और गति प्रदान करता है।

१७. प्रश्न – *श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं कि ध्यान करना चाहिए – मन में, वन में, कोने में। इसका क्या मतलब है?*

उत्तर – इसका अर्थ यह है कि ध्यान एकान्त में किया जाय। मनुष्य का चित्त स्वभाव से चंचल है। उसकी चंचलता दो कारणों से बढ़ जाती है – (१) दिखावे की प्रवृत्ति और (२) तरह तरह के विक्षेपों से घिरे रहना। श्रीरामकृष्ण अपने उपर्युक्त कथन द्वारा साधक को दोनों विघ्नों से बचाना चाहते हैं। कहते हैं – प्रदर्शन का भाव मन में न आने दो, ऐसी जगह साधना करो जहाँ तुम्हें कोई देखता न हो; और दूसरे, ऐसा स्थान चुनो जहाँ विक्षेपों की सम्भावना न हो। उनके 'वन' शब्द का तात्पर्य निर्जन से है – ऐसा स्थान जहाँ हमें कोई विघ्न नहीं पहुँचाएगा। यदि 'वन' सबके लिए सुलभ न हो – जैसे नदी या तालाब का किनारा, गाँव या नगर के बाहर कोई मन्दिर या अन्य सुरम्य, निर्जन स्थान – तो घर के कोने में ध्यान किया जा सकता है। घर का कोना एक ऐसे स्थान की सूचना देता है, जहाँ आवाज तथा हलचल न्यूनतम हो। श्रीरामकृष्ण कहते थे – दही जमाने के लिए दूध में जामन डाला जाता है और दूध को एकान्त में रख दिया जाता है। हिलाने-डुलाने से दही अच्छा नहीं जमता, वैसे ही साधक भी एकान्त में हरि-नाम का जामन लेकर चुपचाप बैठ जाय। **'मन में'** का अर्थ है प्रदर्शन का अभाव। श्रीरामकृष्ण कहते थे – ऐसा साधक मच्छरदानी के अन्दर बैठकर ध्यान करता है ताकि कोई उसे ध्यान करते देख न ले। लोग सोचते हैं कि वह सो रहा है; पर वह सोता नहीं बल्कि ध्यान का अभ्यास करता है।

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण अपने उपर्युक्त कथन द्वारा हमें दोनों प्रकार की बाधाओं से बचने का मार्ग बताते हैं। इनमें पहली हमारी अपनी बनायी हुई होती है और दूसरी बाहर की परिस्थितियों द्वारा हम पर थोपी जाती है। 'मन में ध्यान' हमें प्रथम बाधा से बचाता है और 'वन में तथा कोने में ध्यान' दूसरी बाधा से हमारी रक्षा करता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

श्री सदानन्द योगीन्द्र कृत

सूक्ष्म शरीर के अवयव

सूक्ष्म-शरीराणि सप्तदश-अवयवानि लिङ्ग-शरीराणि ।।६१।।

– सत्रह अवयवों के लिंग शरीर को ही 'सूक्ष्म-शरीर' कहते हैं।

अवयवाः तु ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकं बुद्धि-मनसी कर्मेन्द्रिय-पञ्चकं वायु-पञ्चकं च इति ।।६२।।

– पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि-मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण – (सूक्ष्म शरीर के) सत्रह अवयव हैं।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्र-त्वक्-चक्षुर्-जिह्वा-घ्राण-आख्यानि ।।६३।।

– कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका – ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

एतानि आकाश-आदीनां सात्त्विक-अंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते ।।६४।।

– ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) आकाश आदि भूतों के अलग अलग सात्त्विक अंश से क्रमशः अलग अलग उत्पन्न होती हैं।

बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः ।।६५।।

– अन्तःकरण की निश्चय करनेवाली वृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं।

मनो नाम सङ्कल्प-विकल्पात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः ।।६६।।

– अन्तःकरण की संकल्प-विकल्प करनेवाली वृत्ति को 'मन' कहते हैं।

अनयोः एव चित्त-अहङ्कारयोः अन्तर्भावः ।।६७।।

– इन (बुद्धि-मन) में (क्रमशः) चित्त एवं अहंकार का अन्तर्भाव है।

अनुसन्धानात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः चित्तम् ।।६८।।

– अन्तःकरण की खोज या स्मरण करनेवाली वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं।

अभिमानात्मिका अन्तःकरण-वृत्तिः अहङ्कारः ।।६९।।

– अन्तःकरण की ('मैं' रूप) अभिमान करनेवाली वृत्ति को 'अहंकार' कहते हैं।

एते पुनः आकाश-आदिगत सात्त्विक-अंशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते ।।७०।।

– ये (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) आकाश आदि के मिश्रित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं।

एतेषां प्रकाशात्मकत्वात् सात्त्विक-अंशकार्यत्वम् ।।७१।।

– प्रकाश-स्वरूप होने के कारण ये (मन, बुद्धि आदि) सात्त्विक अंशों के 'कार्य' हैं।

इयं बुद्धिः ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमय-कोशो भवति ।।७२।।

– ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर यह बुद्धि 'विज्ञानमय-कोश' हो जाती है।

अयं कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्व-आदि अभिमानत्वेन इहलोक-परलोक-गामी व्यवहारिको जीव इति उच्यते ।।७३।।

– यह (विज्ञानमय कोश) कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुखित्व आदि अभिमान से युक्त होने के कारण इहलोक तथा परलोक में आवागमन करनेवाला 'व्यावहारिक जीव' कहलाता है।

मनः तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन् मनोमय-कोशो भवति ।।७४।।

– ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर मन 'मनोमय-कोश' हो जाता है।

कर्मेन्द्रियाणि वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-आख्यानि।।७५।।

– वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ – ये 'कर्मेन्द्रियाँ' हैं।

एतानि पुनः आकाशादीनां रजो-अंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते ।।७६।।

– ये (कर्मेन्द्रियाँ) भी आकाश आदि (भूतों) के रजः अंश से क्रमशः (आकाश से वाक्, वायु से हाथ, अग्नि से पैर, जल से गुदा, पृथ्वी से उपस्थ – इस प्रकार) अलग अलग उत्पन्न होती हैं। ।

वायवः प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानाः ।।७७।।

– प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान – ये (पाँच) 'वायु' कहलाते हैं।

७३. व्यावहारिक = अवास्तविक या मिथ्या जीव

प्राणो नाम प्राक्-गमनवान् नासाग्र-स्थानवर्ती ।।७८।।

– ऊपर की ओर चलनेवाले और नासिका के अग्रभाग में निवास करनेवाले वायु को 'प्राण' कहते हैं।

अपानो नाम-अवाक्-गमनवान् पायु-आदि-स्थानवर्ती।।७९।।

– नीचे की ओर चलनेवाले और गुदा के अग्रभाग में निवास करनेवाले वायु को 'अपान' कहते हैं।

व्यानो नाम विष्वक्-गमनवान् अखिल-शरीरवर्ती ।।८०।।

– सभी ओर चलनेवाले और पूरे शरीर में व्याप्त रहनेवाले वायु को 'व्यान' कहते हैं।

उदानो नाम कण्ठ-स्थानीय ऊर्ध्व-गमनवान् उत्क्रमण-वायुः ।।८१।।

– कण्ठ में निवास करनेवाले और (शरीर से निकलकर) ऊपर की ओर चलनेवाले वायु को 'उदान' कहते हैं।

समानो नाम शरीर-मध्यगत-अशित-पीत-अन्न-आदि-समीरणकरः ।।८२।।

– शरीर के मध्यभाग (नाभि) में निवास करनेवाले और खाये-पीये हुए पदार्थों का समीकरण (पाचन) करनेवाले वायु को 'समान' कहते हैं।

समीकरणं तु परिपाक-करणं रस-रुधिर-शुक्र-पुरीष-आदि-करणम् इति यावत् ।।८३।।

– (भोजन का) परिपाचन और उसका रस, रुधिर, शुक्र, पुरीष (मल-मूत्रादि) में परिणत करना 'समीकरण' (या विपाकीकरण) कहलाता है।

केचित् तु नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जय-आख्याः पञ्च-अन्ये वायवः सन्ति इति वदन्ति ।।८४।।

– अन्य (सांख्य मतावलम्बियों) के कथनानुसार नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय नामक और भी पाँच वायुएँ हैं।

तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः ।।८५।।

उत्तम स्वास्थ्य के उपाय (२)

❑ प्रातःभ्रमण के पूर्व अच्छी तरह मंजन करना चाहिए। पहले अँगुली से मसूड़ों की मालिश करनी चाहिए, क्योंकि मसूड़ों को स्वस्थ रखने के लिये मालिश अति आवश्यक है। इसके बाद ब्रश से दाँतों को साफ करना चाहिए, इसके लिये नीम की पतली दातुन सर्वोत्तम है। मंजन के लिये राख, मिट्टी, गुड़ाकू, नमक-तेल आदि का प्रयोग अनुचित है, इनके स्थान पर चाक का महीन चूर्ण प्रयोग में लाया जा सकता है। रासायनिक टूथपेस्टों का चाहे कितना भी विज्ञापन क्यों न किया जाय, उनका उपयोग करने के पूर्व किसी सुयोग्य दन्त-चिकित्सक की सलाह लेनी चाहिए। कभी कभी देखने में आता है कि बहु-विज्ञापित टुथपेस्ट का प्रयोग कई नये रोगों को जन्म देता है।

❑ आज कई रासायनिक पदार्थ हमारे दैनन्दिन जीवन में अपरिहार्य हो गये हैं, यथा टूथपेस्ट, सेविंग क्रीम, हेयरडाई, शैंपू, फिनाइल, कोल्ड-ड्रिंक, स्नो आदि। ये चीजें हमें इतना प्रभावित किये हुए हैं कि इनके बारे में सावधान किया जाना हम पसन्द नहीं करते, पर एक चिकित्सक के लम्बे अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि शरीर पर इनकी तीव्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नये नये रोग जन्म लेते हैं।

❑ क्रीम, साबुन, हेयरडाई, कोल्ड-ड्रिंक आदि का उपयोग करने के पूर्व किसी चिकित्सक या विशेषज्ञ की सलाह लेना उचित होगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

– इनमें 'नाग' उद्गीकरण अर्थात् डकार, उल्टी आदि उत्पन्न करता है, 'कूर्म' से आँखों की पलकें खुलती (और बन्द होती) हैं, 'कृकल' भूख पैदा करता है, 'देवदत्त' जम्हाई लाता है और 'धनंजय' पोषणकर्ता है।

एतेषां प्राणादिषु अन्तर्भावात् प्राणादयः पञ्च एव इति केचित् ।।८६।।

– अन्य (वेदान्तवादी) कहते हैं कि प्राण आदि में ही इनका भी अन्तर्भाव होने से वायुओं की संख्या केवल पाँच ही है।

एतत् प्राणादि-पञ्चकम् आकाशादिगत-रजो-अंशेभ्यः मिलितेभ्यः उत्पद्यते ।।८७।।

– ये प्राण आदि पाँच वायु सम्मिश्रित आकाश आदि (पंचभूतों) के रजस् अंशों से उत्पन्न होते हैं।

इति प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सन् प्राणमय-कोशो भवति । अस्य क्रियात्मकत्वेन रजो-अंश-कार्यत्वम् ।।८८।।

– ये प्राण आदि पंच वायु (पाँच) कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर 'प्राणमय-कोश' कहलाते हैं। अपनी क्रियाशीलता के कारण ये रजस् अंश के कार्य (परिणाम) कहलाते हैं।

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः । मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः । प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः । योग्यत्वात् एवम् एतेषां विभाग इति वर्णयन्ति । एतत् कोशत्रयं मिलितं सन् सूक्ष्म-शरीरम् इति उच्यते ।।८९।।

– इन कोशों में 'विज्ञानमय-कोश' ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण 'कर्ता' रूप है' 'मनोमय-कोश' इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण 'करण' (यंत्र) रूप है; 'प्राणमय-कोश' क्रियाशक्ति से युक्त 'कार्य' रूप है। कहते हैं कि यह वर्गीकरण योग्यता (गुण, क्रिया) के अनुसार किया गया है। इन तीन कोशों को एक साथ मिलाकर 'सूक्ष्म-शरीर' कहते हैं।

अत्र अपि अखिल-सूक्ष्म-शरीरम् एकबुद्धि-विषयतया वनवत्-जलाशयवत्-वा समष्टिः अनेक-बुद्धि-विषयतया वृक्षवत्-जलवत्-वा व्यष्टिः अपि भवति ।।९०।।

– यहाँ भी समस्त सूक्ष्म शरीरों का योग एकत्व भाव से कहें, तो वन या जलाशय के समान ही 'समष्टि' है और नानात्व भाव से कहें, तो वृक्ष या जल के समान 'व्यष्टि' हो जाता है।

एतत् समष्टि-उपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणः च इति उच्यते सर्वत्र-अनुस्यूतत्वात् ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्तिमत् उपहितत्वात् च ।।९१।।

– इस (सूक्ष्म शरीरों की) समष्टि रूपी उपाधि से युक्त चैतन्य के सर्वत्र ओतप्रोत और ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति की उपाधियों से युक्त होने के कारण इसे 'सूत्रात्मा', 'हिरण्यगर्भ' तथा 'प्राण' कहते हैं।

अस्य एषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्च-अपेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमय-आदिकोशत्रयं जाग्रद्-वासनामय-त्वात् स्वप्नः अतएव स्थूल-प्रपञ्च-लयस्थानम् इति च उच्यते ।।९२।।

– स्थूल जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण समष्टि उपाधिवाले इस (हिरण्यगर्भ) 'सूक्ष्म-शरीर' तथा विज्ञानमय आदि 'कोशत्रय' कहा जाता है। जाग्रत अवस्था के संस्कार-रूप होने के कारण इसे 'स्वप्न' भी कहते हैं और इसी कारण यह 'स्थूल जगत् का लय-स्थान' भी कहा जाता है।

एतत् व्यष्टि-उपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमय-अन्तःकरण-उपहितत्वात् ।।९३।।

– तेजोमय अन्तःकरण उपाधि से युक्त होने के कारण, इस (सूक्ष्म-शरीर) के व्यष्टि उपाधियुक्त चैतन्य को 'तैजस' कहते हैं।

अस्य अपि इयं व्यष्टिः स्थूलशरीर-अपेक्षया सूक्ष्मत्वात् इति हेतोः एव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमय-आदि-कोशत्रयं जाग्रद्-वासनामयत्वात् स्वप्नः अतएव स्थूल-प्रपञ्च-लयस्थानम् इति च उच्यते ।।९४।।

– यह व्यष्टि (तैजस) के भी स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण 'सूक्ष्म शरीर', विज्ञानमय आदि 'कोशत्रय', जाग्रत अवस्था की वृत्तियों (संस्कारों) से युक्त होने के कारण 'स्वप्न' और इस कारण 'स्थूल-शरीर का लय-स्थान' भी कहते हैं।

एतौ सूत्रात्म-तैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयान् अनुभवतः 'प्रविविक्तभुक्-तैजसः' इत्यादि-श्रुतेः ।।९५।।

– सूत्रात्मा (समष्टि) और तैजस (व्यष्टि) – दोनों तब (स्वप्न-अवस्था में) मन की (सूक्ष्म) वृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयो का अनुभव करते है, जैसा कि "तैजस सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है।" (माण्डू. उ. ३) आदि के द्वारा श्रुति में कहा गया है।

अत्र अपि समष्टि-व्यष्ट्योः तद्-उपहित-सूत्रात्म-तैजसयोः वनवृक्षवत् तद्-अवच्छिन्न-आकाशवत् च जलाशय-जलवत् तद्गत-प्रतिबिम्ब-आकाशवत् च अभेदः ।।९६।।

– यहाँ भी समष्टि तथा व्यष्टि रूप वन-वृक्ष तथा उनसे सीमित आकाश के समान और जलाशय, जल तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश के समान ही, समष्टि तथा व्यष्टि के रूप मे उपाधियुक्त सूत्रात्मा तथा तैजस अभिन्न हैं।

एवं सूक्ष्मशरीर-उत्पत्तिः ।।९७।।

– इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है।

❖ (क्रमशः) ❖

९५. प्रविविक्तभुक् = स्वप्नावस्था में सूक्ष्म अर्थात् प्रातिभासिक वस्तुओ का भोग करनेवाला।